

જૈન ધ્યાન પ્રક્રિયા



ધ્યાન: આંતર યાત્રા

આચાર્ય યશોવિજયસૂરિ

Available at प्राप्तिस्थान

आचार्यश्री ॐकारसूरि
ज्ञानमंदिर ग्रंथावलि... 105-A

प्रकाशक : आचार्यश्री ॐकारसूरि
आराधना भवन, गोपीपुरा, सुरत

प्रकाशन वर्ष : वि.सं. २०७५

नकल : 1000 (हिन्दी आवृत्ति) मूल्य : ₹ 375.00

आचार्यश्री ॐकारसूरि आराधना भवन
गोपीपुरा, सुरत. (सेवंतीलाल ए. महेता)

मो. 98241 52727

E-Mail : omkarsuri@rediffmail.com,
mehta_sevantilal@yahoo.co.in

आचार्य श्री ॐकारसूरि आराधना भवन
वाव पंथक वाडी, दशापोरवाड सोसायटी,
पालडी, अहमदाबाद-7. (सुरेशभाई के. महेता)
फोन : 26580053 मो. 94293 55953

श्री विजयभद्र चेरीटेबल ट्रस्ट
हाईवे, भीलडीयाजी (ब.कां.) गुजरात.
फोन : (2744) 233129

जीगर धीरुभाई वडेचा

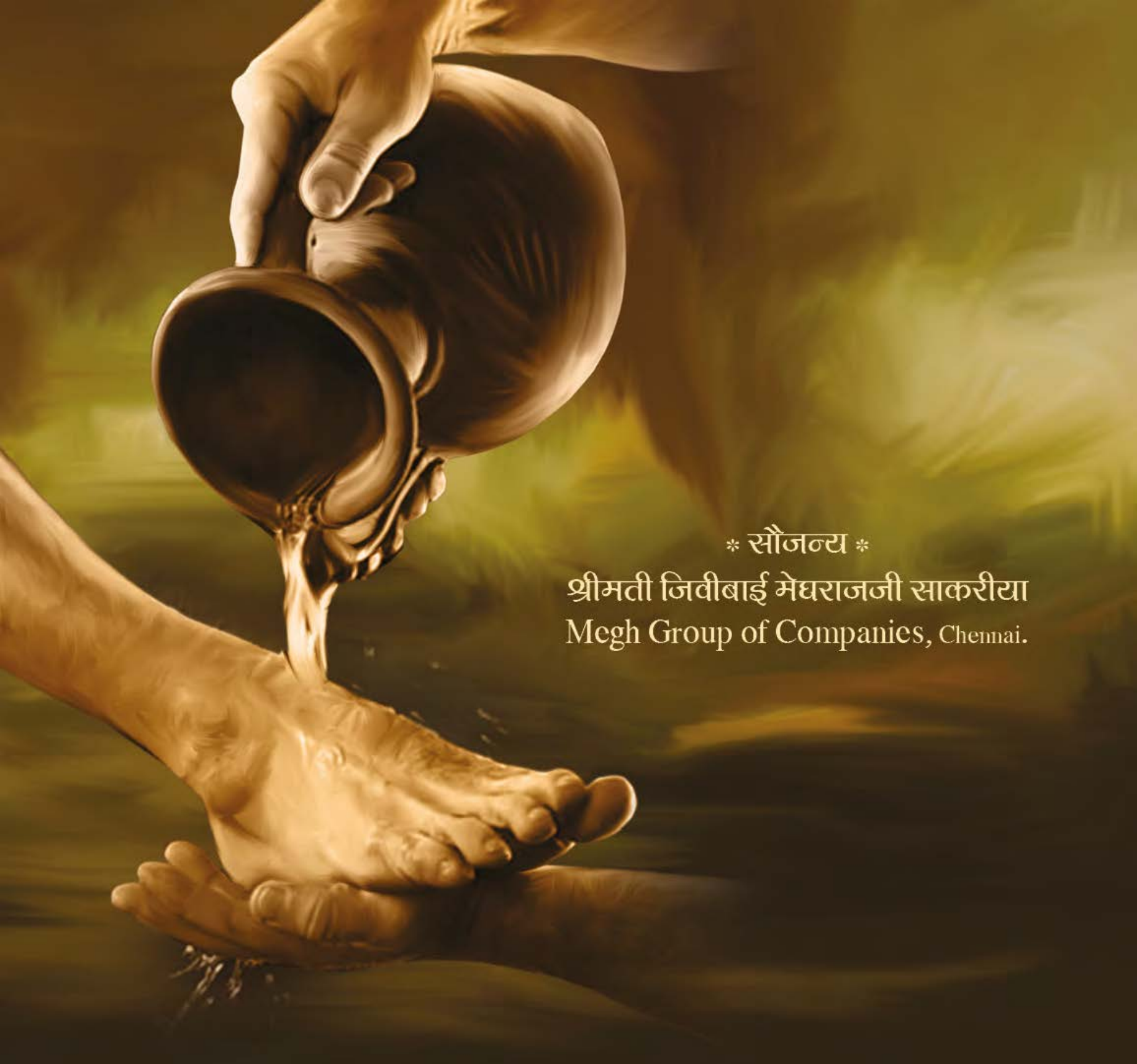
4100 JE, भारत डायमंड बुश, BKC बांद्रा,
मुंबई. फोन : 9820575677

उमेशभाई गाला

801, सत्यसदन बिल्डींग, 295, भीमानी स्ट्रीट,
नपु गार्डन के बाजू में, माटुंगा (पू.),
मुंबई-400 019. फोन : (022) 24149600

मल्टी ग्राफिक्स

मुंबई-400 004. फोन : (022) 23884222
www.multygraphics.com



* सौजन्य *

श्रीमती जिवीबाई मेघराजजी साकरीया
Megh Group of Companies, Chennai.

तारक छाया

श्री शत्रुंजय तीर्थाधिपति
आदिनाथ दादा

दिव्य आशिष

पूज्यपाद, वचनसिद्ध युगपुरुष आचार्य भगवंत
श्रीमद्विजय सिद्धिसूरीधरजी महाराजा

पूज्यपाद, निःस्पृहशिरोमणि
मुनिप्रवरश्री विनयविजयजी महाराजा

पूज्यपाद, भक्तियोगाचार्य, संयमैकदृष्टि आचार्य भगवंत
श्रीमद्विजय भद्रसूरीधरजी महाराजा

पूज्यपाद, विद्वद्वर्य मुनिप्रवरश्री जनकविजयजी महाराजा

पूज्यपाद, संयमैकनिष्ठ मुनिप्रवरश्री ह्रींकारविजयजी महाराजा

पूज्यपाद, तपस्विरत्न मुनिप्रवरश्री विलासविजयजी महाराजा

पूज्यपाद, शासनधुरीण आचार्य भगवंत
श्रीमद्विजय ॐकारसूरीधरजी महाराजा

पूज्यपाद, वर्धमानतपोनिधि आचार्य भगवंत
श्रीमद्विजय भद्रंकरसूरीधरजी महाराजा

पूज्यपाद, प्रशान्तमूर्ति आचार्य भगवंत
श्रीमद्विजय अरविन्दसूरीधरजी महाराजा

पूज्यपाद, आगमप्रज्ञ श्रुतस्थविर
प्रवर्तक मुनिप्रवरश्री जंबूविजयजी महाराजा

पूज्यपाद, आराधनारत मुनिराजश्री जिनचन्द्रविजयजी महाराजा

पू. साध्वीजी कल्पलताश्रीजी महाराज (मातुश्री महाराज)





॥ શ્રી વીતરંગાય નમઃ ॥

તપાગચ્છીય પ્રવરસમિતિ

- તપાગચ્છાધિપતિ આચાર્ય શ્રી મનોહરકીર્તિસાગરસૂરિજી
- ગચ્છાધિપતિ આચાર્ય શ્રી વિજયદેવચંદ્રસૂરિજી
- ગચ્છાધિપતિ આચાર્ય શ્રી વિજયજયદોષસૂરિજી
- ગચ્છાધિપતિ આચાર્ય શ્રી વિજયઅભયદેવસૂરિજી (કાર્યવાહક)
- ગચ્છાધિપતિ આચાર્ય શ્રી દોલતસાગરસૂરિજી

શ્રાવણ સુદ-૫, ૨૦૭૩

ભીતરજી સંશોધન = દયાન

પૂ. ભક્તિયોગાચાર્ય શ્રી યશોવિજયસૂરીશ્વરજી મહારાજાએ ભક્તિમાંથી શક્તિનો આવિર્ભાવ કરીને “જેન દયાન પ્રક્રિયા” પુસ્તિકાનું આલેખન કર્યું છે. તે ક્યારેય નહિ માપી શકાતા અદ્વી અક્ષરના ધ્યાનનો ગ્રંથોના આધારે અને સ્વયંની સાધનાની સ્ફુરણ દ્વારા જ્ઞાન-વિજ્ઞાન અને અભિજ્ઞાન યોગે ભીતરના દ્વાર ખોલવાનો જે માર્ગ બતાવ્યો છે, તે પ્રભુ સાથેના મિલનમાં ધ્યાન દઈને ધ્યેયના ઉંબરા સુધી પહોંચાડવા અને એવા ધ્યાનયોગથી ભીતરના ઉંડાણમાં જવા નિમિત્ત ભૂત બનશે.

ધ્યાનની વાસ્તવિકતા નામિના ધુમ્મટમાં પહોંચી તે તેનું અસલ સ્વરૂપ ધ્યાતાને જરૂર અનુભાવિત કરશે. વિકસતા જીવનની આ સમૃદ્ધિ છે, ધ્યાન “સોડલ” સાધના છે જે સ્વયંના સ્વરૂપનું ચિંતન કરાવે છે. સામાન્ય સમજણમાં ધ્યાનના બે પ્રકારો બતાવ્યા છે, બન્નેના શુભ-અશુભના ભેદે બે-બે ભાગ પડે છે એમ ચાર પ્રકારે ધ્યાન કહ્યું છે.

આર્તધ્યાન, રૌદ્રધ્યાન બન્ને અશુભ ગણાવ્યા છે.

ધર્મધ્યાન, શુકલધ્યાન બન્ને શુભ ગણાવ્યા છે.

અંતિમ બે મોક્ષના કારણભૂત બને છે. તેમજ ગતિની અપેક્ષાએ ચારના અલગ-અલગ ફળ બતાવ્યા છે.

આર્તધ્યાનનો ઉદ્ભવ રાગ-દ્વેષના સંકલેશવાળા મનોભાવથી થાય છે. એટલે તિર્યચગતિ કારક બને છે.

રૌદ્રધ્યાનનો ઉદ્ભવ ક્રૂરતામાંથી થતો હોય છે, જેમાં અતિતામસી સ્વભાવની પરાકાષ્ઠા હોવાથી નરકગતિકારક બને છે.

ધર્મધ્યાનનો ઉદ્ભવ ધર્મસાધના કરતા કરતા કપાયોની કેવી જાલીમતા હોય છે, એવી વૈચારિક અવસ્થાના કારણે દેવગતિની સંભાવના દર્શાવે છે.

શુકલધ્યાનનો ઉદ્ભવ ધર્મધ્યાનથી ઉભી થતી એકલીનતા વાળી અવસ્થા, શોકનો નાશ કરાવે-શિવ અપાવે, મોક્ષલક્ષની સિદ્ધિ છે.

અંતમાં,

ધ્યાનભૂમિકાના આ પ્રકાશનમાં આપનો વહેલો જ્ઞાનશ્રોત અશરણ જગતના જીવોને શરણભૂત બનશે, એની અનુપ્રેક્ષા ધ્યાન અવસ્થામાં પ્રાણ પૂરવાનું કામ કરશે.

પ્રવરસમિતિના પાંચે ગચ્છાધિપતિશ્રીઓ તરફથી આપને અનુમોદના સાથે સાધુવાદની વર્ષા...

અસ્તુ...

લી. પ્રવરસમિતિ

- તપાગચ્છાધિપતિ આચાર્ય શ્રી મનોહરકીર્તિસાગરસૂરિજી
- ગચ્છાધિપતિ આચાર્ય શ્રી વિજયદેવચંદ્રસૂરિજી
- ગચ્છાધિપતિ આચાર્ય શ્રી વિજયજયદોષસૂરિજી
- ગચ્છાધિપતિ આચાર્ય શ્રી વિજયઅભયદેવસૂરિજી (કાર્યવાહક)
- ગચ્છાધિપતિ આચાર્ય શ્રી દોલતસાગરસૂરિજી

જન. નો ૬ ૨ ૭૨ નો ૨૦૭૩ સુદ
સ્વા. વિજયદેવચંદ્રસૂરિ
સ્વા. વિજય જયદોષસૂરિ
વિજય અભય દેવસૂરિ
દોલતસાગર

आचार्य यशोविजयसूरि

जैन ध्यान प्रक्रिया विषयक पुस्तक 'ध्यान : आंतर यात्रा' श्री संघ के कर-कमल में समर्पित करते हुए अत्यंत आनन्द की अनुभूति हो रही है।

परम पावन श्री पालीताणा तीर्थ के पारणाभवन में वि.सं.२०७२ में आयोजित तपागच्छीय श्रमण सम्मेलन में प्रस्ताव क्रमांक ४२ के अंतर्गत जैन ध्यान प्रक्रिया से सम्बन्धित साहित्य के निर्माण का प्रस्ताव रखा गया था।

वि.सं.२०७३ में श्री अहमदाबाद तपागच्छीय श्रमण सम्मेलन में ध्यान प्रक्रिया के संदर्भ में विद्वान विशेषज्ञों की एक समिति की रचना इस प्रकार की गई :

आचार्य श्री यशोविजय सूरिजी

(पू. बापजी महाराज का समुदाय)

आचार्य श्री धर्मधुरंधर सूरिजी

(पू. वल्लभसूरि महाराज का समुदाय)

आचार्य श्री यशोविजय सूरिजी

(पू. प्रेम-भुवनभानुसूरि महाराज का समुदाय)

मुनिराज श्री पुनितप्रभ विजयजी

(पू. केसरसूरिजी महाराज का समुदाय)

पू. पं. श्री अरुण विजयजी

(पू. भक्तिसूरिजी महाराज का समुदाय)

मैं इस समिति के समस्त पूजनीय आचार्य भगवन्तों तथा अन्य विद्वानों का ऋण स्वीकार करता हूँ जिन्होंने यह पुस्तक पढ़ा और निर्देश भी दिए।

Index अनुक्रम

| | | | | | |
|---|--|---------|--|--|---------|
|  | स्वानुभूति : भागवती साधना का लक्ष्य | 1 - 5 |  | पदस्थ ध्यान | 52 - 57 |
|  | अरिहंत प्रभु का ध्यान | 6 - 13 |  | पिंडस्थ ध्यान | 58 - 63 |
|  | ध्यान प्रक्रिया के चार चरण | 14 - 23 |  | रूपातीत ध्यान | 64 - 67 |
|  | रत्नत्रयी की साधना | 24 - 31 |  | ‘ध्यानविचार’ ग्रन्थ में वर्णित 24 प्रकार के ध्यान | 68 - 75 |
|  | समिति साधना | 32 - 35 |  | ध्यान : अभ्यन्तर तप | 76 - 79 |
|  | गुप्ति साधना | 36 - 41 |  | परिशिष्ट 1-2-3 | 80 - 81 |
|  | ध्यान के प्रकार | 42 - 47 |  | परिशिष्ट 4 (पारिभाषिक शब्दों के अर्थ) | 81 |
|  | रूपस्थ ध्यान | 48 - 51 |  | परिशिष्ट 5 (प्रायोगिक ध्यान) | 82 - 85 |





आधार सूत्र : 1

भदन्त! द्वादशाङ्गरय, किं सारमिति कथ्यताम्।
सूरिः प्रोवाच सारोऽत्र, ध्यानयोगः सुनिर्मलः॥
मूलोत्तरगुणाः सर्वे, सर्वा चेयं वहिष्क्रिया।
मुनीनां श्रावकाणां च, ध्यानयोगार्थमीरिता॥
मनःप्रसादः साध्योऽत्र, मुक्त्यर्थं ध्यानसिद्धये।
अहिंसादि-विशुद्धेन, सोऽनुष्ठानेन साध्यते॥

- उपमितिसारोद्धार, प्र.८

हे भगवन्! कृपया द्वादशाङ्गी का सार बताते हुए
हमें अनुग्रहित करें।

उत्तर में आचार्य भगवंत कहते हैं कि 'अत्यंत
निर्मल ध्यानयोग' ही द्वादशाङ्गी का सार है।
समस्त मूलगुण, उत्तरगुण तथा साधु एवं
श्रावकों द्वारा किए जाने वाले बाह्य क्रियाकलाप
'ध्यानयोग' हेतु ही बताए गए हैं।

ध्यानयोग का मुख्य हेतु मुक्ति ही है और ध्यान
हेतु मानसिक प्रसन्नता अति-आवश्यक है।
अहिंसा आदि विशुद्ध अनुष्ठान के द्वारा यह
मानसिक प्रसन्नता प्राप्त की जा सकती है।



01 | स्वानुभूति : भागवती साधना का लक्ष्य

हम कितने भाग्यशाली हैं कि हमें प्रभु की साधना-पद्धति प्राप्त हुई है!

पूज्य महामहोपाध्याय श्री यशोविजय महाराज ने 'श्रीपाल रास' में भागवती साधना का लक्ष्य बताते हुए कहा है कि :

योग असंख्य छे जिन कहा, नवपद मुख्य ते जाणो रे;
अह तणे अवलंबने, आतमध्यान प्रमाणो रे...

प्रभु ने विविध साधना पद्धतियाँ बताई हैं, इन साधनाओं द्वारा हमें स्वानुभूति प्राप्त करनी है।

पूज्यपाद देवचन्द्रजी महाराज ने परमतारक श्री अभिनन्दन प्रभु की स्तवना करते हुए स्वानुभूति के लिए 'पुद्गल अनुभव त्याग' की बात की है।^(१)

ध्यान रहे कि उन्होंने यहाँ पुद्गल त्याग की बात नहीं की है, अपितु पुद्गल अनुभव त्याग की साधना दी है।

शरीर रूपी बड़े पुद्गल को आहार या वस्त्रादि अन्य पुद्गलों की आवश्यकता होगी ही, किन्तु उन पुद्गलों का उपयोग करते समय इस प्रकार का राग-द्वेष भाव नहीं होना चाहिए कि यह द्रव्य अच्छा है या वह द्रव्य बुरा है।

ऐसे भी साधक देखने को मिलते हैं कि यदि उनसे भोजन करने के बाद तुरन्त ही पूछें कि 'क्या खाया?' तो उन्हें याद नहीं रहता। कारण कि जब शरीर भोजन कर रहा था तब उस साधक का मन किसी शास्त्र की मनभावन पंक्ति के स्वाध्याय में लीन था, फिर भोजन किसे याद रहे!!

'पर' की व्यर्थता के इस बोध के समांतर 'स्व' के आनन्द की अनुभूति कैसे झलक उठती है उसका अत्यंत सुंदर वर्णन 'आठ दृष्टि की सज्जाय' में पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजय महाराज इन पंक्तियों से देते हैं :

बाल धूलिघर लीला सरखी, भवचेष्टा ईहां भासे रे;
रिद्धि सिद्धि सवि घटमां पेसे, अष्ट महासिद्धि पासे रे...५/३

अंशे होय ईहां अविनाशी, पुद्गल जाल तमासी रे;
चिदानंदधन सुजस विलासी, किम होय जगनो आशी रे...५/६

'पर' की व्यर्थता के बोध की गहराई का मार्मिक चित्रण स्थिरा दृष्टि में यहाँ ऐसा किया गया है कि, 'बाल धूलिघर लीला सरखी, भवचेष्टा ईहां भासे रे...' 'पर' की ओर गति करने वाली समस्त प्रक्रियाएँ साधक को बालक द्वारा बनाए जाने वाले गीली रेत के घर के समान प्रतीत होती है। वह बालक गीली मिट्टी से घर बनाकर प्रसन्नता से कहेगा कि यह मेरा घर है, किन्तु जैसे ही उसकी माँ उसे भोजन हेतु बुलाएगी तो वह तुरन्त ही उस घर को तोड़कर वहाँ से चला जाएगा।

'पर' की व्यर्थता का यह बोध ही पुद्गल अनुभव त्याग है। साधक को यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'पर' की ओर गति करने से कोई लाभ नहीं।

इस संदर्भ में एक घटना याद आती है :

एक साधक गुरु के पास आत्म-साक्षात्कार की विधि ग्रहण करने हेतु जाकर उनसे विनंती करता है।

साधक के 'पर' की व्यर्थता के बोध को जानने के लिए गुरु पूछते हैं : तू नगर में से पसार होकर मेरे पास आया है, नगर में तुने क्या देखा ?

१. क्युं जाणुं क्युं बनी आवशे, अभिनंदन रस रीत हो मित्त; पुद्गल अनुभव त्यागथी, करवी जसु परतीत... - अभिनंदन जिन स्तवना.

साधक कहता है : गुरुदेव! मिट्टी के पूतले मिट्टी के लिए दौड़ रहे हैं, यह मैंने देखा।

गुरु ने देखा कि साधक को 'पर' की व्यर्थता का बोध तो है, किन्तु 'स्वयं' के प्रति अहंकार का क्षय हुआ है कि नहीं, इस बात की भी परीक्षा करनी चाहिए।

गुरु ने पूछा, "इस खंड में अभी क्या हो रहा है?"

साधक ने उत्तर दिया, "मिट्टी का एक पुतला गुरु से ज्ञान की अभिलाषा लिए बैठा है।"

गुरु को संतोष हुआ और उसे स्वानुभूति के मार्ग पर चलने का मार्गदर्शन दिया।



4 'पर' की व्यर्थता के बोध से 'स्व' के आनन्द की अनुभूति कैसी होती है उसका अत्यंत सुंदर चित्रण पूज्य महोपाध्यायजी के शब्दों में :

‘अंशे होय ईहां अविनाशी, पुद्रलजाल तमासी रे...’

अर्थात् यहाँ यह अनुभूति की जा रही है कि, मैं अविनाशी आत्मद्रव्य हूँ। मैं शाश्वत लय में स्थित नित्य तत्त्व हूँ।

पूज्य आनन्दघनजी महाराज के शब्दों में यह अनुभूति 'नासी जासी, हम थिरवासी, चोखे हैं नीखरे' की है। मृत्यु के मुख में बैठा साधक भी ये पंक्तियाँ गुनगुना सकता है कि, 'यह नश्वर शरीर यहीं पड़ा रह जाएगा, मैं तो स्थिर ही हूँ, मैं शाश्वत लय का आत्मद्रव्य हूँ, इस काया के पिंजरे से मुझे मुक्ति मिलने वाली है।'

भेदज्ञान की अनुभूति की संवेदना यहाँ होती है।

‘अध्यात्म बिन्दु’ ग्रन्थ में पूज्य हर्षवर्धन उपाध्यायजी कहते हैं :

ये यावन्तो ध्वस्तबन्धा अभूवन्, भेदज्ञानाभ्यास एवात्र बीजम्।

अर्थात् जितनी आत्माओं ने सिद्ध पद प्राप्त किया है उन सभी की साधना के मूल में भेदज्ञानाभ्यास ही था।

भेदज्ञान के अभ्यास हेतु 'अमृतवेल की सज्झाय' में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने एक अद्भुत मंत्र दिया है :

‘देह मन वचन पुद्रल थकी, कर्मथी भिन्न तुज रुप रे।’

आत्मन्! तेरा अस्तित्व इस देह से, मन से, पुद्रलों से तथा कर्म से नितांत भिन्न है।

प्रत्येक साधक को इस मंत्र की घुट्टी बनाकर पी लेनी चाहिए और साथ ही इस मंत्र के प्रभाव को और तीव्र बनाने हेतु 'तुज' शब्द के स्थान पर 'मुज' शब्द का प्रयोग करना चाहिए, फिर यह मंत्र कुछ ऐसा बनेगा :

‘देह मन वचन पुद्रल थकी, कर्मथी भिन्न मुज रुप रे।’

‘अंशे होय ईहां अविनाशी, पुद्रल जाल तमासी रे...’ पद में स्वानुभूति का स्पष्ट वर्णन किया गया है कि पुद्रलों का उपयोग भले होता रहे किन्तु साधक को उससे होने वाले प्रिय-अप्रिय का बोध सतत अल्प होता रहे। साधक को 'पर' का समस्त संसार इंद्रजाल की भांति व्यर्थ प्रतीत होता है।

महोपाध्यायजी यहाँ पर एक रोचक प्रश्न करते हैं, 'चिदानंदघन सुजस विलासी, किम होय जगनो आशी रे?' अर्थात् अपने ज्ञान तथा आनन्द में डूबा साधक जगत् के प्रति या 'पर' के झमेलों के प्रति रसिक कैसे हो सकता है?



स्वानुभूति ही हमारी साधना का लक्ष्यबिन्दु है!

हमारी साधना ही हमें अपने

‘स्व’ के वैभवशाली लोक में ले जाएगी।

स्वानुभूतिः स्व की वैभवी दुनिया



आत्मन्!
वू देह से, मन से,
वचन से,
पुद्गलों से एवं
कर्म से भिन्न है।







आधार सूत्र : 2

आत्मनो हि परमात्मनि योऽभूद्, भेदबुद्धिकृत एव भेदः।
ध्यानसन्धिकृतमुं व्यापनीय, द्रागभेदमनयोर्वितनोति॥

- 11, ध्यानस्तुति अधिकार, अध्यात्मसार

बुद्धि द्वारा आत्मा और परमात्मा में जो भेद बताकर
विवाद उत्पन्न किया गया, ध्यान नामक दूत ने इस
विवाद को दूर करते हुए तुरन्त ही आत्मा और
परमात्मा में अभेद स्थापित किया। अर्थात् ध्यान
दशा में ऐसा जाना जा सकता है कि आत्मा ही
परमात्म रूप है।



आप रूप प्रगटे जिण हेति, ते दाखे गुरुजन धरी हेति...

- पंचपरमेष्ठि मंत्रराज ध्यान माला 1/21

02 | अरिहंत प्रभु का ध्यान

स्वानुभूति ही हमारा लक्ष्य है, इस हेतु प्रभु ने अनेक मार्ग (योग) दिखाए हैं : 'योग असंख्य छे जिन कहा, नवपद मुख्य ते जाणो रे...'

नवपद की साधना भी स्वानुभूति प्राप्त करने का मुख्य मार्ग है। स्वानुभूति हेतु रत्नत्रयी की साधना, समिति साधना, गुप्ति साधना आदि हृदयंगम मार्ग भी हैं।

लक्ष्य भी मजेदार है... और मार्ग भी आनन्दकारी। आइये, इस नवचेतना का आनन्द लें...



इस परिप्रेक्ष्य में नवपद साधना की प्रथम – अरिहंत पद की साधना देखते हैं। महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज 'श्रीपाल रास' में कहते हैं :

'अरिहंत पद ध्यातो थको, दव्वह गुणह पज्जाय रे;
भेद छेद करी आतमा अरिहंतरूपी थाय रे...'

अर्थात्, श्री अरिहंत परमात्मा का द्रव्य, गुण या पर्याय से ध्यान करने वाला साधक, क्षण मात्र में ही अपनी चेतना को अर्हन्मयी कर देता है।

हमारी परम्परा में इस घटना को 'अभेदमिलन' की उपमा दी गई है। एक अभेदमिलन शाश्वती के लय का है जो सिद्ध अवस्था में है, और दूसरा अभेदमिलन कुछ ही क्षणों के लिए होता है; जो हमें ध्यान की दशा में प्राप्त होता है।

पूज्य हरिभद्रसूरि महाराज ने इस संदर्भ में एक सुन्दर साधना सूत्र बताया है, ^(१) 'समापत्तिर्ध्यानतः स्पर्शना।' अर्थात् ध्यानदशा में यदि आप प्रभु के गुणों का या प्रभु के निर्मल आत्मद्रव्य का स्पर्श करते हैं, यही समापत्ति है।

जिनगुण के साथ निजगुण के अभेद की यह अद्भुत अनुभूति है। मानो यही हमारा अवतारकृत्य है। कुछ क्षण के लिए ही सही, किन्तु परमसत्ता के साथ अद्वैत अनुभव तो हुआ।

अब प्रश्न यह है कि, यह अनुभव होगा कैसे?

'ज्ञानसार' ग्रन्थ में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने समापत्ति हेतु मार्ग बताया है :

मणाविव प्रतिच्छाया, समापत्तिः परात्मनः।

क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्याना-दन्तरात्मनि निर्मले॥

मणि में या दर्पण आदि में जिस प्रकार समक्ष रखे पदार्थ का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार क्षीणवृत्ति तथा निर्मल आन्तरदशा वाले साधक के हृदय में ध्यान के क्षणों में प्रभु के गुणादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

अर्थात् समापत्ति की साधना के लिए यह क्रम निर्धारित हुआ : क्षीणवृत्ति दशा, निर्मल अन्तरात्म दशा, ध्यान।

आइये, प्रत्येक शब्द का आलंबन लेते हुए आन्तर यात्रा प्रारम्भ करते हैं।



क्षीणवृत्ति दशा : ऐसी दशा जहाँ मानसिक विकल्प अथवा राग-द्वेषात्मक विचार अल्प हो जाएँ।

यह हमारा भ्रम है कि बाह्य निमित्तों के कारण विकल्प जन्म लेते हैं या विभाव प्रज्वलित होते हैं। वस्तुतः इसके पीछे का कारण हमारी हार्दिक निर्मलता या उपादान शुद्धि की अल्पता है।



जहाँ विकल्प/
रागद्वेषात्मक
विचार
अल्प
हो गये हों ऐसी दशा :
क्षीणवृत्ति दशा



कोई अप्रिय घटना घटित होने के पश्चात् मन में ऐसे विकल्प आते हैं कि, 'उसने ऐसा क्यों किया?' या 'सदैव मेरे साथ ही ऐसा क्यों होता है?'

प्रभु ने इस स्थिति में 'सर्व-स्वीकार' की साधना का मार्ग प्रस्तुत किया है। जो भी घटित हो उसे स्वीकार कीजिए।^(२) भागवती साधना का मुख्य परिबल 'सर्व-स्वीकार' है।

कोई घटना घटित हुई। केवलज्ञानी महापुरुषों ने अपने ज्ञान में उस घटना को उस समय घटित होते हुए देखा और वह घटना ठीक उसी प्रकार ही घटित हुई जैसा उन्होंने देखा। अब हम उन केवलज्ञानी महापुरुषों के ज्ञान का स्वीकार करेंगे या उस घटना के विरुद्ध लड़ेंगे?

सर्व-स्वीकार की यह साधना अत्यंत रोचक है।

मयणासुन्दरी ने विवाह हेतु श्रीपालकुमार का हाथ थामा। कहाँ रूप की अम्बार मयणासुन्दरी और कहाँ रक्तपित्त के कारण दुर्गन्धित काया वाला श्रीपाल!

श्रीपाल रास के रचयिता मयणासुन्दरी के उस समय के भावों को अद्रुत शब्दों में व्यक्त करते हुए कहते हैं :

'मयणा मुख नवि पालटे रे, अंश न आणे खेद,
ज्ञानीनुं दीतुं हुए रे...'

अर्थात् मयणासुन्दरी के मुख की रेखाएँ नहीं बदली, उसके हृदय में लेश मात्र भी विषाद उत्पन्न नहीं हुआ। कारण ? ज्ञानीपुरुषों ने जैसा अपने ज्ञान में देखा, वैसा ही घटित हो रहा है... सर्व-स्वीकार...



क्षीणवृत्तिता का अन्य दृष्टिकोण लीजिए। किसी व्यक्ति ने आपको अप्रिय शब्द कहे। उस समय आपको यह लगना चाहिए कि 'यह व्यक्ति तो इस घटना का निमित्त मात्र है, वास्तविक कारण तो मेरे पूर्वकृत कर्म है।' अब कहिए, उस व्यक्ति ने आपको अप्रिय शब्द कहे या आपके कर्म ने यह घटना घटित की?

देवाधिदेव प्रभु महावीर की साधनावस्था का यह प्रसंग आप बंद आँखों से भी 'देख' सकते हैं।

प्रभु के कान में अज्ञानी व्यक्ति ने कील ठोंकी, किन्तु उस समय प्रभु की आँखों में करुणा की बूँदें छलक उठी। प्रभु ने यह विचार किया कि 'मेरे पूर्वकृत कर्म के कारण यह घटना घटित हो रही है। कील ठोकने वाला यह व्यक्ति तो मेरे कर्मों की निर्जरा में मेरा सहायक बन रहा है। किन्तु... क्रोधवश यह व्यक्ति कितने कर्मबंध कर रहा होगा, क्या इसके परिणामस्वरूप इसे दुर्गति में जाना पड़ेगा?'

यह दृश्य 'देखकर' क्या आपकी आँखें नम हुईं। आप प्रभु से यह प्रार्थना कीजिए कि, 'हे प्रभु! मेरे कान में कोई कील ठोकने आए, यह तो बहुत दूर की बात है और मेरी कल्पना से परे है। अरे! कोई मेरे गाल पर थप्पड़ मारे तो भी मेरे लिए असहनीय है। किन्तु हे प्रभु! मुझे इतना बल अवश्य देना कि यदि मेरे कान में कटु वचन प्रवेश करे तो मैं उन शब्दों को प्रेम से स्वीकार कर सकूँ।

तो क्षीणवृत्तिता प्राप्त करने का दूसरा मार्ग हुआ - पूर्वकृत कर्मों के उदय के समय प्रसन्नता बनाए रखना।



इसका तीसरा उपाय भी है :

मैं कई बार संगोष्ठी में श्रोताओं से पूछता हूँ कि, 'यदि कोई आपको लकड़ी से मारे तो शरीर के उस भाग में सूजन आती है, किन्तु यदि कोई आपको कड़वे शब्द कहे तो क्या कानों में सूजन आएगी?'

इसकी उत्तर रूपी प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार आती है कि, 'कान में नहीं, अपितु मन में सूजन उत्पन्न होती है कि उसने मुझे ऐसा क्यों कहा? और फिर विकल्पों का तेज प्रवाह चल पड़ता है।'

ऐसी स्थिति में साधक को वर्तमान योग की साधना अत्यंत उपयोगी सिद्ध होती है। जो घटना घटित होनी थी, वह हो गई, जिस क्षण वह घटना हुई वह क्षण भी बीत गया, तो उस क्षण से जुड़ी घटना भी तो बीत गई न?

समझो कि दोपहर के चार बजे आपको किसी ने अप्रिय वचन कहे। चार बजकर एक मिनट पर यह घटना पूर्ण हुई। अब चार बजकर दो मिनट पर तो इस घटना का अस्तित्व है ही नहीं। यदि है, तो वह है उस घटना का मृत देह। अब आप इस मुर्दे को उठाकर कब तक चलेंगे?



वर्तमान योग :

भूतकाल तो बीत गया, भविष्य में होने वाली घटनाओं की अभी से चिन्ता क्यों करनी? वर्तमान के समय को उदासीनता से परिपूर्ण कर लीजिए।^(३-४)

इस दृष्टि से देखा जाए तो यह साधना कितनी छोटी-सी और सहज हो गई। आपके अधिकार में वर्तमान की एक क्षण है; इसे तटस्थवृत्ति से, उदासीनता से भर दो। क्या अब भी वर्तमान योग कठिन लग रहा है?

परम पावन श्री आचारांगजी में एक रोचक सूत्र आता है, 'खणं जाणाहि पंडिए।' मैं इसका मुक्त अनुवाद ऐसे करता हूँ : प्रभु कहते हैं कि, "हे वत्स! क्या तुम अपना एक क्षण मुझे दोगे?" यदि प्रभु ऐसा कहें तो हम तो अपने सद्भाग्य पर इठलाने लगे और तुरन्त प्रभु से कहें कि, "हे प्रभु! मेरे इस जीवन के स्वामी आप ही हैं, मैं मेरा एक क्षण पूर्ण भक्तिभाव से आपको अर्पित करता हूँ।"

किन्तु यह संवाद यहाँ पूर्ण नहीं होता। आचारांग सूत्र में प्रभु को एक कुशल गुरु के रूप में दर्शाया गया है।^(५) और एक कुशल गुरु अपने शिष्य को कैसे सहेजता है, इसका चित्रण देखिए :

प्रभु कहते हैं, "वाह वत्स! तुम अत्यंत समझदार और आज्ञाकारी हो कि मैंने तुम्हारी एक क्षण मांगी और तुम अर्पित करने हेतु तत्पर भी हो गए। किन्तु हे वत्स! अपने जीवन का जो क्षण तुम मुझे दे रहे हो वह मलिनवृत्ति युक्त हो तो क्या यह उचित होगा?"

उत्तर में हम कहेंगे, "हे प्रभु! तो मुझे क्या करना चाहिए, मार्गदर्शन कीजिए।"

तो प्रभु कहते हैं, "वह एक क्षण ऐसा हो जिसमें राग, द्वेष, अहंकार आदि की परछाई भी न दिखे और उस क्षण में तुम्हारी जागृति सतत दृष्टिगोचर हो, मुझे तो ऐसा क्षण चाहिए।"

अब शुभारम्भ कीजिए... एक मिनट के लिए किसी भी शुभ योग की गहराई में डुबकी लगाइए। हो सकता है कि प्रारंभिक पचास सेकण्ड अच्छे गए, किन्तु इक्यावन वें सेकण्ड में आपके कक्ष में किसी व्यक्ति ने प्रवेश किया, जिस पर आपको



सर्वस्वीकार :
भागवती
साधना का
महत्तम
परिबल



३. अतीतानुसन्धानं, भविष्यदविचारणम्। औदासीन्यमपि प्राप्ते, जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्॥ - शंकराचार्य

४. अतोऽतीतचिन्ता मोहविलसितमेव। - उपमिति, प्रस्ताव ४

५. त्वं मे माता पिता नेता, देवो धर्मो गुरुः परः। - सिद्धसेन सूरि, शक्रस्तव

तिरस्कार है। और उसे देखते ही आपकी तिरस्कार-वृत्ति जागृत हुई। अब यह मिनट प्रभु को अर्पित नहीं किया जा सकता।

फिर से प्रयास कीजिए। मन को पुनः शुभ योग से ओतप्रोत कीजिए। किन्तु ५८ वें सेकण्ड में, भले ही स्मृति से ही सही, मन में आसक्ति या अहंकार के भाव उठे, तो फिर से यह क्षण व्यर्थ गया मानेंगे।

यह बहुत ही रोचक साधना है।

क्षीणवृत्तिता का वर्णित यह तीसरा उपाय अत्यंत हृदयंगम है। क्षीणवृत्तिता के परिणामस्वरूप हृदय की निर्मलता प्राप्त होती है। प्रभु ने हमें यह कैसा अद्भुत दान दिया है। क्षीणवृत्तियुक्त साधक ही प्रभु के इस दान को स्वीकार कर सकता है। यदि विकल्पों से मुक्ति मिली तो विभाव भी स्वतः चले जाएँगे।

प्रभु ने उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है, 'ऋजु साधक निर्मल हृदय का स्वामित्व प्राप्त करता है, और निर्मल हृदय में ही धर्म का वास होता है।' (६)

एक बार क्षीणवृत्तिता प्राप्त हुई, और चित्तदशा निर्मल हुई, अब ध्यान करना है। कैसा अद्भुत और रुचिपूर्ण क्रम है। प्रथम, चित्त से विकल्प कम हुए, फिर निर्मलता आई और फिर स्थिरता। निर्विकल्पता से निर्मलता प्राप्त हुई, निर्मलता से एकाग्रता – यह एकाग्रता ही ध्यान है। (७-८)

विकल्पों को परे रख कर अपने चित्त को एक ही शुभ विषय की ओर लगाएँ। यह एकाग्रता एक अन्तर्मुहूर्त तक चल सकती है।

चित्त की स्थिरता से आपके भीतर स्थित निर्मल गुणों को आप स्वयं देख पाएँगे और फिर उन गुणों के प्रति आकर्षण आपकी चेतना को उस हद तक सम्मोहित करेगा कि उन गुणों को प्राप्त करना ही आपका लक्ष्य बन जाएगा।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने परम तारक श्री शीतलनाथ प्रभु के स्तवन में इस बात की व्याख्या की है कि प्रभु के गुणों का संस्पर्श अधिक समय तक कैसे टिके।

अत्यंत प्रेमभरे शब्द हैं, 'ज्योतसुं ज्योत मिलत जब ध्यावे, होवत नहि तब न्यारा...'

ज्योतिर्मय परमात्मा का एवं उनके गुणों का ध्यान आप भी ज्योतिर्मय बन के कर सकते हैं।

ध्यान, अर्थात् प्रभु का संस्पर्श, प्रभु के गुणों का संस्पर्श... शर्त बस इतनी ही है कि साधक को भी इस हेतु ज्योतिर्मय बनना होगा।

अरिहंत प्रभु के विषय में आपने कुछ पढ़ा होगा, कुछ सुना होगा। किन्तु इसमें शब्द ही माध्यम बने हुए थे। शब्द तो पौद्गलिक है, अज्योतिर्मय घटना है। इनके द्वारा ज्योतिर्मय का अनुभव कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार आपने प्रभु के गुणों का भी मंथन किया होगा, किन्तु उसमें चित्त की एकाग्रता नहीं रही होगी। एक घड़ी प्रभु-गुण विचार तो दूसरी घड़ी सहसा अन्य निमित्त मिलते ही राग-द्वेषात्मक विचार आए होंगे। चित्त की एकाग्रता के अभाव में चित्त में उठने वाली विभिन्न विचार रूपी तरंगे-अज्योतिर्मय घटना है। तो ज्योतिर्मय के साथ तादात्म्य कैसे स्थापित हो?



पूर्वकृत
कर्मों के
उदय
के समय पर
प्रसन्नता

६. सोही उज्जुअभूअस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ। - उत्तराध्ययन सूत्र, ३

७. अंतोमुहुत्तमेत्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुंमि। छउमत्थाणं ज्ञाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु।। - ध्यानशतक, ३

८. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। अग्रम्-आलम्बनम् एकं च तदग्रं चेत्येकाग्रं एकालम्बनमित्यर्थः। एकस्मिन् आलम्बने चिन्तानिरोधः।

चलं चित्तमेव चिन्ता, तन्निरोधः तस्यैकत्रावरथापनमित्यर्थः।। - तत्त्वार्थ सूत्र, श्री सिद्धसेनगणि टीका, सूत्र ९ से २७

किन्तु हाँ! यदि कोई शब्द या विचार आपको किसी विशिष्ट अनुभूति की ओर ले जाए तो वे शब्द तथा विचार ज्योतिर्मयता के साधन बन सकते हैं। किन्तु अन्य शब्दों या अन्य विषयक विचारों में फँसने से बचें। इन दोनों का पूरा उपयोग अनुभूति के साधन के रूप में ही करें।

शर्त पुनः दोहराएं, ज्योतिर्मय बनकर ही ज्योतिर्मय के साथ एकाकार हो सकते हैं। प्रभु-गुणों में यदि चित्त एकाग्र हुआ तो उन गुणों की आंशिक लहर आपके अंतर्मन से उठेगी। आपको ऐसा अनुभव होने लगेगा कि प्रभु में जो गुण समाए हैं, वे ही गुण सत्ता रूप में मेरे पास भी हैं। अब यदि प्रभु-कृपा हो, तो फिर ये गुण मुझमें क्यों प्रकट नहीं होंगे?

ना का प्रश्न ही नहीं, वे गुण अवश्य प्रकट होंगे। इसके साथ ही समत्व के सुन्दर झरने का प्रवाह आपके अन्दर प्रवाहित होने लगेगा।

प्रभु तो समत्व के सागर समान हैं, और आपका चित्त समत्व के झरने जैसा। जब यह झरना सागर से मिलेगा तो अभेदानुभूति होनी प्रारम्भ होगी।

एक और बात, झरना या नदी ही सागर में समाहित हो सकती है, कंकर नहीं। चाहे कितने ही कंकर समुद्र में फेंको, दोनों का एकाकार होना सम्भव नहीं। झरना समुद्र में विलुप्त हो सकता है और जिस क्षण वह सागर में मिला उसी क्षण वह सागरमय बन जाता है।

इस एकाकार होने को पूज्यपाद आनंदघनजी महाराज 'धातु-मिलन' नाम से सम्बोधित करते हैं। प्रभु की जो धातु-गुणधारा है, वैसी ही गुणों की आंशिक धारा साधक के चित्त में विकसित हो तो उसका मिलन प्रभु-गुण के साथ होता है।^(९)

आपके भीतर बहती समरूपता की अनुभूति के क्षणों में आप परमात्मा के साथ एकरूप हो जाते हैं - यही समापत्ति है।

चित्त की एकाग्रता, चित्त के ठहराव के क्षणों में आपने प्रभुगुणों का संस्पर्श किया, अनुभूति की। यह अनुभव शब्दातीत होता है।

आप इसका आनन्द अवश्य ले सकते हैं, किन्तु वर्णन नहीं कर सकते। शब्दों में यह अनुभूति कहने जितना सामर्थ्य नहीं होता।

इसीलिए पूज्य यशोविजय महाराज ने कहा है,

जिनही पाया, तिनही छिपाया, न कहे कोऊ के कान में;
तारी लागी जब अनुभव की, तब समझे सहु सान में...

- श्री शांति जिन स्तवना

जिसने यह आनन्द प्राप्त किया, वह अन्य को बताने में असमर्थ है, किन्तु जब कोई अन्य व्यक्ति इस अनुभव की तन्मयता को स्पर्श करता है, तब उसे सब समझ में आ जाता है।

कदाचित् अनुभूति-प्राप्त व्यक्ति अपनी अनुभूति शब्दों में व्यक्त कर भी दे, किन्तु यदि अन्य व्यक्ति को इस विषय का तनिक भी ज्ञान न हो तो वे शब्द व्यर्थ ही होंगे।

'ज्योतसुं ज्योत मिलत जब ध्यावे, होवत नहि तब न्यारा...' ज्योतिर्मय बनकर ही ज्योतिर्मय का स्पर्श यह समापत्ति है। ज्योतिर्मयता के उन क्षणों में, प्रभुगुणों के संस्पर्शन में कैसा दिव्य आनन्द है!!

संस्पर्श है प्रभुगुणों का, संस्पर्श है प्रभु-स्वरूप का। परमात्मा अखण्ड, अलिप्त आत्मद्रव्य है। आप अपने उपयोग को शुभ या शुद्ध की एकाकी धारा में पिरोते हुए इस निर्मल स्वरूप का संस्पर्श कर सकते हैं।

आप अपना ही एक दृष्टान्त लीजिए। प्रातःकाल ५ बजे से ८ बजे आयोजित भक्ति के कार्यक्रम में आपने भाग लिया। तीन घंटे भक्ति के भावों में आप पूरे भीगे। आयोजक की ओर से नाश्ते का निमंत्रण भी था, तो आप नाश्ता करने बैठे। चाय ठंडी थी, और बाकी नाश्ता भी एकदम बेकार था। आपको क्रोध आया। क्यों? किस बात का गुस्सा? तीन घंटे की अद्भुत भक्ति के भीगेपन को चाय के एक कप ने व्यर्थ कर दी?



एक क्षण वर्तमान का आपके पास है... आप उसे उदासीनदशा से भर दो...

यहाँ पर हमें एकाग्रता का मूल्य समझना होगा। भक्ति के कार्यक्रम में आपका चेतन मस्तिष्क जुड़ा हुआ था, अवचेतन मस्तिष्क तो राग-द्वेष के कीचड़ से सना था। अतः तीन घंटे की अमी-वर्षा को उस एक क्षण ने कोरा कर दिया। इसके स्थान पर आप यह विचार भी तो कर सकते थे कि, 'चाय तो घर जाकर भी पी सकते हैं, किन्तु तीन घंटे की भक्ति में डूबने का यह कैसा दिव्य अनुभव था!'

यथार्थ में तो उस वृष्टि की झड़ी में आप इतने डूब चुके होने चाहिए थे कि चाय के स्वाद का पता भी न चले। किन्तु हुआ उल्टा, आपका चेतन मस्तिष्क भक्ति में डूबा, अवचेतन मस्तिष्क तो अपनी पुरानी धारा में ही था। आपको चित्त की एकाग्रता प्राप्त नहीं हुई और संभावित तादात्म्य का वह क्षण हाथ से निकल गया।

मात्र चेतन मस्तिष्क, ऊपरी मन ही साधना या भक्ति करे यह पर्याप्त नहीं। आंतरिक मन का संयोग होना अनिवार्य है। चित्त की गहराई, जहाँ राग, द्वेष, अहंकार आदि पड़े हैं, साधना को भी उसी गहराई तक ले जाना होगा। साधना अस्तित्व के स्तर

की होनी चाहिए। इस हेतु आवश्यकता है ध्यान की, चित्त की एकाग्रता की। एकाग्रता की क्षणों में प्रभुगुण और प्रभु-स्वरूप की जो चाहत उत्पन्न होगी वह कभी नहीं छूटेगी।

इसी लय में महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज कहते हैं,
'मेरे प्रभुसुं प्रगट्यो पूरन राग...'

यहाँ पूर्ण राग से क्या तात्पर्य है? अस्तित्व की गहराई से होने वाली चाहत ही पूर्ण राग है।

आप अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से प्रभु को प्रेम करते हैं, मात्र और मात्र प्रभु से ही प्रेम है।

यदि प्रभु के प्रति राग है और पदार्थों से भी राग है, तो फिर इसे पूर्ण राग नहीं कहेंगे। मात्र एक पदार्थ का राग भी उस पूर्ण राग को खंडित कर देगा।

'समापत्तिर्ध्यानतः स्पर्शना' – कैसा अद्भुत सूत्र है यह। इस सूत्र के प्रदाता पूज्य हरिभद्रसूरि महाराज के हम सदैव ऋणी रहेंगे।





आधार सूत्र : 3

समत्वमवलग्न्याथ, ध्यानं योगी समाश्रयेत्।
विना समत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते॥

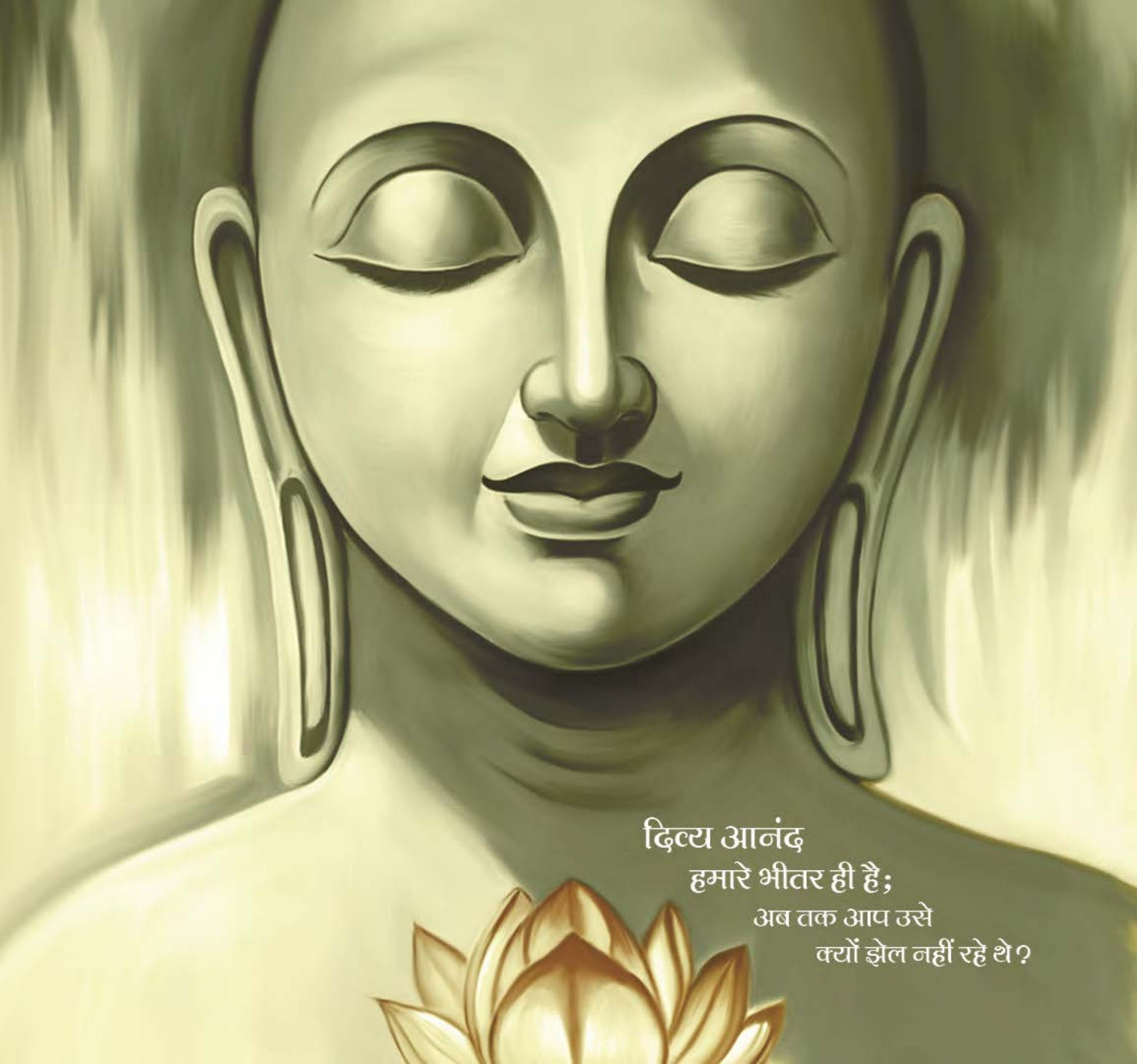
- योगशास्त्र, ४/११२

योगी समत्व के आलंबनपूर्वक ध्यान प्राप्त करता है। बिना समत्व के, बिना समरूपता के ध्यान कैसे हो सकता है? वह तो आत्म-प्रतारणा होगी।



अरिहंतादिक शुद्धात्मा, तेहनुं ध्यान करो महात्मा;
कर्मकलंक जिम दूरि जाय, शुद्धात्मा ध्याने सुख थाय।

- पंचपरमेष्ठि मंत्रराज ध्यानगाथा, 1/9



दिल्लय आनंद
हमारे भीतर ही है;
अब तक आप उसे
क्यों झेल नहीं रहे थे ?

03 | ध्यान प्रक्रिया के चार चरण





आत्मन्!
विकल्पों के उस पार
तुम जाज्वल्यमान हो।
अब तुम स्वयं में 
खो जाओ!

स्वानुभूति की शास्त्रीय साधना बहुत आनन्दकारी है, यह साधना चार चरणों में विभाजित की गई है :

भाव प्राणायाम : 10 मिनट

भाष्य जाप : 2 मिनट

मानस जाप : 8 मिनट

ध्यान का अभ्यास : 10 मिनट

यदि आप मात्र ३० मिनट दे सकते हैं तो परम-चेतना के संग आपका मिलन हो सकता है। आईये, प्रथम इन चरणों को समझें, फिर इन्हें प्रयोगात्मक स्तर पर ले जाएंगे।



प्रथम चरण : भाव प्राणायाम

मात्र श्वास लेना और छोड़ना वह द्रव्य प्राणायाम है। पूज्य हरिभद्रसूरि महाराज ने योगदृष्टि समुच्चय ग्रंथ में भाव प्राणायाम की बात की है। इस ग्रन्थ की गुजराती कृति 'आठ दृष्टि की सज्ज्ञाय' में पूज्य यशोविजयजी महाराज कहते हैं - 'बाह्यभाव रेचक इहां जी, पूरक आंतरभाव...'

श्वास छोड़ने के साथ अपने भीतर स्थित क्रोध को भी बाहर निकालना - भाव 'रेचक' है। श्वास लेते समय अपने आस-पास स्थित महापुरुषों द्वारा उत्सर्जित समत्व के आन्दोलन ग्रहण करना - भाव 'पूरक' है।

क्रोध के आन्दोलन छोड़ने हैं और समत्व कणिकाएँ ग्रहण करनी है। इस क्रिया में आपके संकल्प की महत्वपूर्ण भूमिका है।

इस संदर्भ में मनोवैज्ञानिकों द्वारा बताया गया यह प्रयोग अत्यंत

रोचक है, इसका उद्देश्य सकारात्मक परिबलों को ग्रहण करना है :

हमारे आस-पास सकारात्मक तथा नकारात्मक-दोनों ऊर्जाएँ व्याप्त हैं, इन दोनों में से मात्र सकारात्मक ऊर्जा कैसे ग्रहण की जाए?

इसका अत्यंत सहज उपाय यह है कि आप अकारण मात्र पांच मिनट के लिए मानसिक प्रसन्नता धारण करें। आपके मन की यह प्रसन्न मुद्रा स्वतः उन सकारात्मक परिबलों को खींचेगी। इसके विपरीत यदि आप बेचैन या उदास होंगे तो नकारात्मक ऊर्जा भी स्वतः आकर्षित होगी।

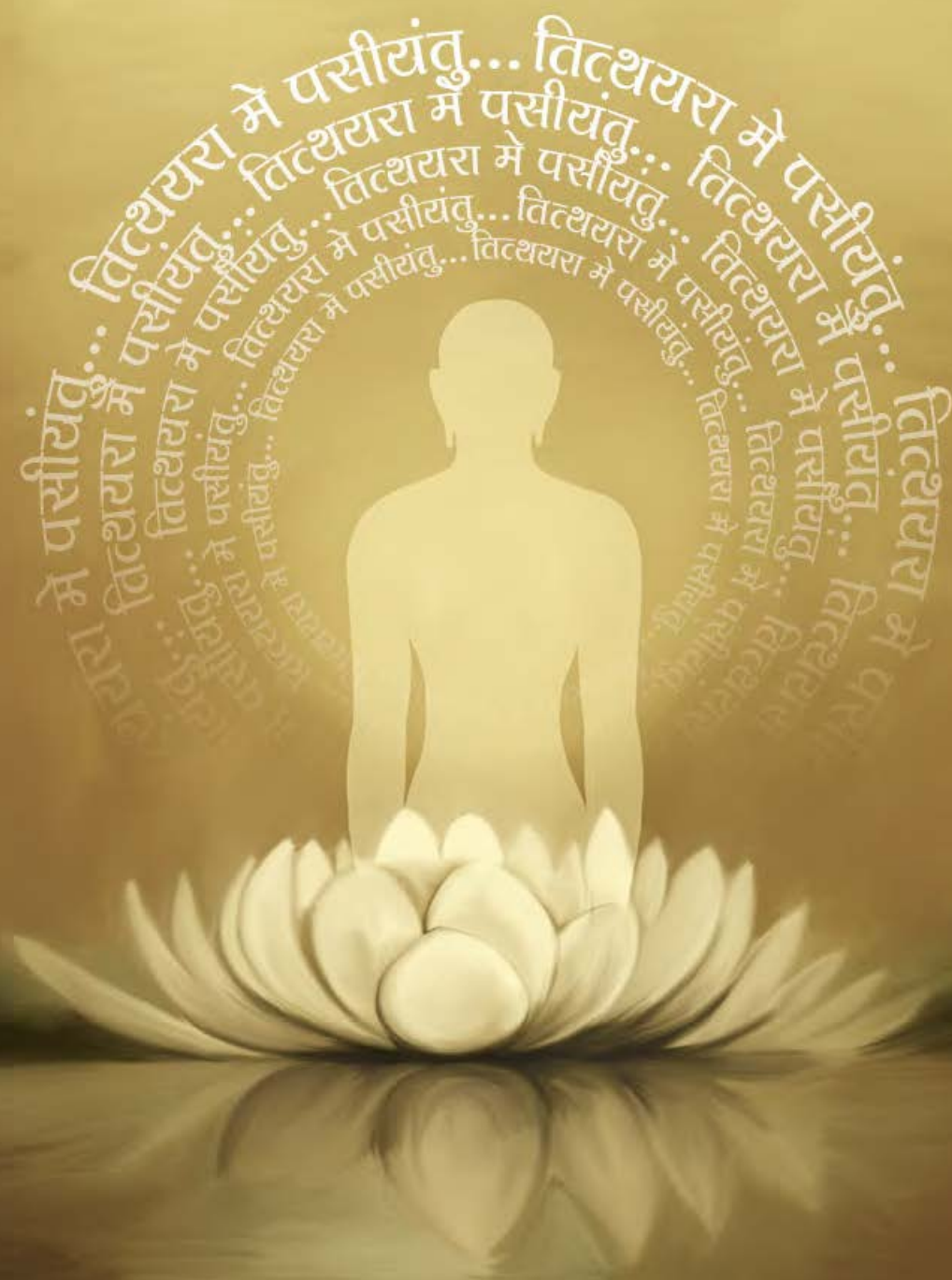
हमें भी ऐसा करना है।

अब अपनी काया को स्थिर कीजिए, और आँखें बंद करके अपने मन को स्व-स्फुरणा दीजिए कि, प्रत्येक निःश्वास के साथ, श्वास उत्सर्जन के साथ क्रोध-भाव बाहर निकले और प्रत्येक उच्छ्वास के साथ, श्वास ग्रहण करने के साथ समत्व भाव हमारे भीतर प्रवेश करे।

एकाध मिनट चेतनापूर्वक इस क्रिया का अभ्यास करने के पश्चात् ऐसा स्वतः होने लगेगा। फिर स्वतः ही श्वास निकलने के साथ क्रोध बाहर निकलता रहेगा और श्वास लेने के साथ समत्व की ऊर्जा भीतर प्रवेश करती रहेगी।

अब इस क्रिया में श्वास स्वतः ही आ रही है और निकल रही है, आप श्वास लेने-छोड़ने का कार्य नहीं कर रहे। शारीरिक तंत्र यह कार्य कर रहा है और आप श्वास की इस प्रक्रिया के द्रष्टा बन जाते हैं।

मात्र १० मिनट की यह क्रिया आपके चित्त को हल्का बना देगी।



द्वितीय चरण : भाष्य जाप

हल्की सी प्रगट आवाज़ से जाप करना भाष्य जाप है। आपके कान में ये शब्द गूँजने चाहिए, 'तित्थयरा मे पसीयंतु'। इस पद का जाप दो मिनट तक करना है।

जपयोग क्या कार्य करता है? गणधर प्रभु द्वारा दिए गए मंत्र की यह ध्वनि दो कार्य करती है, एक : विकल्प कम करना तथा दूसरा : साधना को आधार देना।

जब आपके कानों से मंत्रध्वनि टकराएगी तब विचार स्वतः अल्प होंगे। विचारों की वेग से भागती गाड़ी के लिए ये शब्द गतिरोधक का कार्य करेंगे।

इस ध्वनि द्वारा दूसरा कार्य होगा साधना को आधारभूमि देना। पाक्षिक सूत्र (पक्खी सूत्र) में समस्त महाव्रतों के उच्चारण के समय एक समान शब्द-समूह आवर्तित होता है। क्यों...?

प्रथम महाव्रत स्वीकार या पालन करते समय जो मनोभूमिका आवश्यक है वैसी ही मनोभूमिका द्वितीय महाव्रत के स्वीकार या पालन के समय चाहिए, इसीलिए ध्वनि आवर्तित होनी भी आवश्यक है।

हम यहाँ एक ही मंत्र लेंगे, 'तित्थयरा मे पसीयंतु', दो मिनट शब्दोच्चार के साथ इसका जाप करना है। यदि एकाधिक साधक हों तो सबके एक स्वर में हुए मंत्रोच्चार से पूरा वातावरण ही बदल जाएगा।

'तित्थयरा मे पसीयंतु' - यह मंत्र कहता है कि, 'हे प्रभु! आप मुझ पर कृपा-वर्षण कीजिए। इस साधना के मार्ग पर मैं आपकी कृपा के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता।'।

इसी लय में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने कहा है, '...तुं गति...' हे प्रभु! इस साधनामार्ग में मुझे गति प्रदान करने वाले आप ही हैं। आपके प्रसाद के बिना इस मार्ग पर एक इंच तो क्या एक सेंटीमीटर तय करना भी असम्भव है।

तृतीय चरण : मानस जाप

अब इसी मंत्र का मानस जाप ८ मिनट तक मन में करना है।

मानस जाप एक अनूठी प्रक्रिया है। बिना रोकटोक पूरी दुनिया में भटकने वाला मन इस मंत्र रूपी कील से बंधन में आता है। कितनी बड़ी घटना है यह! मात्र यहाँ-वहाँ फिरना, सतत यायावर बने रहना ही जिसकी प्रकृति है उस मन को आपने एक पद पर स्थिर कर दिया।

इस भूमिका को साधन एकाग्रता कहते हैं। चौथे चरण की साध्य-एकाग्रता या स्वगुण-स्वरूप एकाग्रता प्राप्त करने की महत्त्वपूर्ण कड़ी यही है।

साध्य-एकाग्रता स्व में डूबने से प्राप्त होती है। किन्तु जब तक मन किसी भी एक शुभ योग में स्थिर न हो तब तक स्व में स्थिर कैसे रह सकता है?

आठ मिनट की यह मानस-जाप प्रक्रिया ध्यान दशा में बहने हेतु महत्त्वपूर्ण पूर्वभूमिका है। इस जाप में आपको ऐसा एकाग्रचित्त बनना है कि आपका मन इसके अतिरिक्त कहीं न हो। कदाचित कोई अन्य विचार आये भी तो उसे भगाकर पुनः जाप में स्थिर हो जाइये। इस हेतु एक गहरी श्वास लें और इस पद का शाब्दिक उच्चारण करें और पुनः मानस जाप की प्रक्रिया में जुड़ जाएँ।

चतुर्थ चरण : ध्यान का अभ्यास

चतुर्थ चरण में जाप छोड़ देना है। क्योंकि जपयोग स्वाध्याय है और हमें अब ध्यान की दिशा में जाना है।

तृतीय चरण के मानस जाप द्वारा जो एकाग्रता प्राप्त हुई, उसे स्वगुण की धारा में जाने के लिए जोड़ना है।

अब आपके पास न तो कोई शब्द है और न ही कोई विचार। यदि है तो वह है मात्र चित्त की एकाग्रता और इस एकाग्रता की पृष्ठभूमि में है आपके भीतर बहती हुई समत्व की ऊर्जा।

समत्व की एक धारा आपके भीतर सतत बह रही थी, कारण कि यह आपका मौलिक गुण था ही। किन्तु अब तक यह पहचान में नहीं आ रही थी। इसका कारण यह था कि आपका मन किसी राग या किसी द्वेष के वश में था।

विभाव और स्वभाव एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े हैं। यदि मन विभाव में रमण कर रहा हो तो उसी समय वह स्वभाव में कैसे जा सकता है? मानस जाप के कारण विकल्प अल्प हुए, मंद पड़े, और विकल्पों की मंदता के कारण राग, द्वेष अहंकार आदि विभाव भी शिथिल हुए।

विभाव शिथिलता की इस पृष्ठभूमि से साधक समत्व की यात्रा कर पाता है। अब साधक 90 मिनट शान्त-चित्त से बैठता है और अपने भीतर निहित समत्व का अनुभव करता है। इस दिव्य अनुभव से उसका चित्त छल-छल छलक उठता है, 'ओह! ऐसा दिव्य अनुभव मेरे भीतर था!! और मैं सुख की खोज के लिए बाह्य पदार्थों में भटक रहा था!!'

प्रारम्भिक अभ्यास काल में विकल्प-अभाव रूपी शांति मिलेगी। किन्तु जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ेगा वैसे-वैसे भीतर की शुद्ध एवं दिव्य शांति की अनुभूति होगी। असमत्व, चित्त में अशांति उत्पन्न करता है और समत्व से शांति की दिव्य लहरें उठती हैं। आपको इसी दिव्यता का अनुभव करना है।

फिर से याद दिलाता हूँ कि यदि तृतीय चरण सम्यक् रूप से हुआ होगा तभी चतुर्थ चरण की दिव्यता अनुभूत होगी। आपका

मन या तो भूतकाल में चला गया होगा या भविष्य की चिंता में; वर्तमान के ठहराव का अभ्यास आपके पास नहीं है।

तृतीय चरण के 'तित्थयरा मे पसीयंतु' पद का आलंबन लेकर आप अपने चित्त को इसमें डुबो सकते हैं। इससे चित्त की एकाग्रता की प्राप्ति होती है। अब उसी एकाग्रता को समत्व की प्राप्ति हेतु जुटाना है।

चतुर्थ चरण में आपको अपने समत्व, अपने भीतर स्थित दिव्य शांति का अनुभव करना है। इस स्थिति में आपको इतनी जागृति रखनी है कि यदि चित्त क्षण मात्र भी चंचल बने, 'पर' में या विचारों की ओर गति करे तो आपको तुरंत ही जागृति रखते हुए दो-तीन गहरे श्वास लेते हुए पुनः समत्व की धारा में जुड़ जाना है। ध्यान के सूत्र का मजेदार रहस्य यही है कि यदि आपका मन 'पर' में नहीं है, तब 'स्व' में ही है।

समत्व को मुख्य गुण मानते हुए यह सम्पूर्ण प्रक्रिया बताई गई है। किन्तु यदि लक्ष्य वीतराग दशा की आंशिक अनुभूति करने का हो तो भी प्रक्रिया तो यही रहेगी; बस, मन से राग दूर करने का विशेष प्रयत्न करना होगा।

मात्र तीस मिनट की साधना में आपको अपनी दिव्य शांति, दिव्य आनन्द मिले तो इस हेतु आपको तत्पर हो जाना चाहिए।

मात्र चार चरण और चौथे चरण में आपको 'अपनी' प्राप्ति...। प्रक्रिया पुनः देखें :

प्रथम चरण : भाव प्राणायाम... 10 मिनट

द्वितीय चरण : भाष्य जाप... 2 मिनट

तृतीय चरण : मानस जाप... 8 मिनट
चतुर्थ चरण : ध्यान का अभ्यास... 10 मिनट

दिव्य आनन्द आपके भीतर ही था, क्यों अब तक आप इससे वंचित रहे?

इसका उत्तर कुछ ऐसे दे सकते हैं कि, आप किसी झील के किनारे बैठे हैं। पानी का मधुर कलरव, मंजुल ध्वनि, मधुर झंकार आपके कानों और मन को आह्लादित करने में सक्षम है। किन्तु इतने में वहाँ से एक वरघोड़ा निकला। ढोल-ताशे की आवाज़ में झरने का मधुर कलरव सुनाई नहीं दे रहा। किन्तु यदि वरघोड़ा दूर निकल जाए तो वह मधुर ध्वनि पुनः आपको आह्लादित कर सकती है।

दिव्य आनन्द से वंचित रहने का कारण भी यही है। मन तो विकल्पों की तीव्र आवाज़ के पीछे दब गया। उस शोर-गुल के बीच आपके भीतरी समत्व की मधुर झंकार का अनुभव कैसे सुनाई दे सकता है? प्रारम्भिक तीन चरण यदि सम्यक् रूप से हुए तो चतुर्थ चरण में आप अवश्य अपने ही आनन्द की अनुभूति कर पाएँगे।

चतुर्थ चरण कहता है कि, 'हे आत्मन्! विकल्पों के उस पार तू प्रकाश से जगमगा रहा है। अब खो जा! अपने में ही!'

समत्व आदि आपके निजगुण हैं, निर्मल उपयोग - 'स्व' की धारा में अखंड उपयोग - आपका ही निज-स्वरूप है। इस स्व-रूप की धारा में बहने के लिए भी चरण तो ये चार ही हैं।

कैसी रोचक साधना है यह!... हे प्रभु! आपके द्वारा दिए गए

इस दान को मैं लेने हेतु समर्थ बनूँ इतना बल मुझे अवश्य देना मेरे नाथ!!

प्रारम्भ में हम इस ध्यान को ध्यानाभ्यास कहेंगे। यह अभ्यास जैसे-जैसे अग्रसर होगा तब यह ध्यानाभ्यास स्वतः ध्यान में परिणत हो जाएगा।

इन चार चरणों में से प्रथम चरण का विवेचन पूज्य श्री यशोविजयजी महाराज ने 'आठ दृष्टि की सज्जाय' में दिया है। बाकी के तीन चरण पं. पद्मविजय महाराज की नवपद पूजा के उपाध्याय पद की पूजा से प्राप्त हुए हैं।

उपाध्याय पद की पूजा के शब्द इस प्रकार हैं :

नमो उवज्झायाणं जपो हो मित्ता,

जेहना गुण पचवीस रे

एकाग्रचित्ता; ए पद ध्यावो रे...1

भाष्य जाप, एकाग्रचित्तता (मानस जाप में) तथा ध्यान।

तत्पश्चात् उपाध्याय पद की पूजा में ध्यान का फल बताते हुए कहते हैं कि,

ए पद ध्यावो ध्यानमां हो मित्ता, मूकी राग ने रीस...

ध्यान के अभ्यास में आप जैसे-जैसे आगे बढ़ेंगे, आपके राग-द्वेष शिथिल होते रहेंगे।

ध्यानाभ्यास प्रवेश हेतु ऐसे सुन्दर पद प्रदान करने वाले महापुरुषों के चरणों में कृतज्ञता पूर्ण वन्दन।

(प्रायोगिक ध्यान : परिशिष्ट 5)





आधार सूत्र : 4

सीरां जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स या।
सत्त्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ॥14॥

– इसिभासियाई (अर्हत् दगभाल)

जिस प्रकार 'मस्तक' इस शरीर का महत्त्वपूर्ण अंग है, जिस प्रकार 'मूल' प्रत्येक वृक्ष का महत्त्वपूर्ण अंग है, उसी प्रकार 'ध्यान' सम्पूर्ण साधुधर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है।



पुच्छिऊण मए तुब्भं, झाणविग्घो उ जो कओ।

– उत्तराध्ययन सूत्र-20/57

राजा श्रेणिक अनाथी मुनि को कहते हैं, आपके पूर्वकाल की बातें पूछकर मैंने आपके ध्यान में अवरोध उत्पन्न किया, इस हेतु मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

04 | रत्नत्रयी की साधना

‘अध्यात्मोपनिषद्’ ग्रन्थ में उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं :

द्रष्टृदृग्मात्मता मुक्ति-दृश्यैकात्म्यं भवश्रमः।

यदि द्रष्टा मात्र दर्शन के क्षणों में ही रहता है, देखने के पल में ही रहता है तो यह उसका मुक्तिमार्ग है, किन्तु यदि द्रष्टा दृश्य के साथ एकाकार होकर राग-द्वेष के चंगुल में पड़े, तो यह उसका संसार है।

आप मात्र द्रष्टा है। वैभाविक क्रियाओं में आपका कर्तृत्व लेश मात्र भी न तो है, और न हो सकता है। इस पूरी प्रक्रिया में आप मात्र ज्ञाता और द्रष्टा है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् मात्र द्रष्टाभाव। पूज्य हर्षवर्धन उपाध्याय जी ‘अध्यात्मबिन्दु’ ग्रन्थ में कहते हैं,^(१) ‘हे आत्मन्! तू अपने स्वरूप को देख, इस विश्व में अन्य कुछ देखने योग्य नहीं है।’

इस के लिए महोपाध्यायजी ने ‘समताशतक’ ग्रन्थ में विधि बताते हुए कहा कि, ‘देखे नहीं कुछ और जब, तब देखे निज रूप...’

अर्थात् आपको अपने द्रष्टाभाव को निहारना है। आस-पास होने वाली घटनाएँ आप इस प्रकार देखिए कि आप उनमें लिप्त नहीं हैं, और आप मात्र स्व-रूप देखने में रत हैं।

आप मात्र द्रष्टा है।

सुबह नाश्ता किया... किसने किया? आपने या आपके शरीर ने? शरीर को भोजन करने दो, आप इस प्रक्रिया में भाग मत लो।

सेवक को पानी लाने के लिए कहा, तो क्या स्वामी उसके पीछे-पीछे मटके तक जाएगा? नहीं। उसे अपना कार्य करने दो।

इसी प्रकार शरीर अपने आप भोजन ग्रहण करने का कार्य कर लेगा, आप मात्र द्रष्टा बनकर रहो।

साधक का शरीर भोजन हेतु बैठा, उस समय साधक का चित्त किसी मनोहारी स्तवन की कड़ी का आनन्द ले रहा है, मैं गेरेंटी देता हूँ, उस समय हाथ में खाने का जो कौर वह लेगा, सीधे उसके मुँह में ही जाएगा-नाक या कान में नहीं। अब कहिए, आपके कर्तृत्व की कोई आवश्यकता है?

प्रभु कहते हैं कि, ‘तेरे पास शरीर है, और इस शरीर को आहार या वस्त्रादि पुद्गलों की आवश्यकता है। तुम मेरी आज्ञानुसार उन पुद्गलों का उपयोग कर सकते हो, किन्तु इन पदार्थों के प्रति राग या द्वेष, प्रेम या घृणा के रूप में उपयोग नहीं होना चाहिए।’

परम पावन श्री आचारांग सूत्र में प्रभु से प्रश्न किया गया कि, ‘हे प्रभु! क्या द्रष्टा को दुःख या पीड़ा हो सकती है?’ तो प्रभु ने उत्तर दिया, ‘नहीं! द्रष्टा को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती।’^(२)

द्रष्टाभाव में एक समझ है कि पदार्थ, पदार्थ है; वह अच्छा या बुरा नहीं होता। शारीरिक आवश्यकता है, अतः उस पदार्थ के प्रति प्रेम या द्वेष के भाव के बिना उसका उपयोग होता रहता है।

पदार्थों के प्रति दृष्टि या उनके प्रति प्रेम या द्वेष से मुक्त होकर आपका चित्त अब ‘स्व’ की ओर दृष्टिपात करेगा। ‘पर’ से निकला और ‘स्व’ में प्रविष्ट हुआ।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज द्वारा लिखित एक पद याद आता है :

१. किं मुञ्च! चिन्तयसि काममसद्विकल्पां-स्तद् ब्रह्मरूपमनिशं परिभावयस्व। यल्लाभतोऽस्ति न परः पुनरिष्टलाभो, यद्दर्शनाच्च न परं पुनरस्ति दृश्यम्॥ 1/29॥

२. किमस्ति उवाही पासगस्स... णत्थित्तिवेमि। - आचारांग सूत्र

प्रभु मेरे, तू सब बाते पूरा...
परसंग त्याग लाग निजरंगे, आनंदवेली अंकुरा;
निज अनुभव रस लागे मीठा,
जिम घेबर में छूरा!...

अर्थात् हे आत्मन्! हे निर्मल चेतना! तू स्वयं सम्पूर्ण है।

‘पर’ के संग को छोड़कर तू निज-रंग में रंग जा, अपने आनन्द और ज्ञान में डूब जा, फिर देख कैसी मस्ती प्रकट होती है! यदि घेवर में चाकू डालें तो वह चाकू उस घेवर के घी और शक्कर मिश्रित चाशनी से लथपथ हो जाता है, उसी प्रकार तू भी अपने आनन्द में डूब जाएगा।

द्रष्टाभाव-सम्यग्दर्शन ही आपको यह आनन्द दे सकता है।



पूज्य पद्मविजयजी महाराज ने नवपद पूजा के सम्यग्दर्शन पद की पूजा में कहा कि,

‘आतम ज्ञान को अनुभव दरिसन, सरस सुधारस पीजिए...’

आत्मज्ञान की अनुभूति ही अमृत है। उसका पान करें।



सम्यग्ज्ञान

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ‘अध्यात्मोपनिषद्’ ग्रन्थ में कहते हैं :

तेनात्मदर्शनाकाङ्क्षी ज्ञानेनान्तर्मुखो भवेत्।

अर्थात् आत्म-दर्शन का इच्छुक साधक ज्ञान के माध्यम से अन्तर्मुखी बनता है। अन्तर्मुखी दशा से ही ज्ञानी की पहचान होती है। भले ही अनिवार्यतः बाह्य पदार्थों की जानकारी रखनी पड़े, किन्तु उनसे राग-द्वेष का अभाव होने के कारण ‘स्व’ मिलन की यात्रा चलती रहती है।

अब तक ‘पर’ को रुचिपूर्वक पहचाना, उनके साथ प्रेम या वैर रखकर कर्मबंध किया। अब ‘स्व’ की ओर जाकर यह जानना है कि, ‘मैं कौन हूँ?’

पूज्य आनंदघनजी महाराज इसका उत्तर देते हैं, ‘ना हम मनसा, ना हम शब्दा, ना हम तनकी धरणी...’

अर्थात् मैं विचार नहीं, मैं शब्द नहीं, मैं शरीर भी नहीं, फिर मैं कौन हूँ?

‘आनंदघन चेतनमय मूरत...’ मैं तो आनंदघन आत्मा हूँ। मैं चैतन्य से छलकती ज्ञानघन आत्मा हूँ।



गुर्जिएफ अपने पास आने वाले साधक को सेकंड की सुई वाली घड़ी देकर कहते थे कि, 'दो मिनट तक इस सेकंड की सुई का सतत पीछा करो।' सभी साधक वैसा ही करते। फिर गुर्जिएफ दूसरा पाठ देते कि, 'अब पांच मिनट तक सेकंड की सुई देखने वाले को देखो।' यह सुनकर सभी साधक सीधे कह उठते कि यह दुष्कर है। तो गुर्जिएफ कहते कि, 'हमारी कैसी दरिद्रता है! हम अपने से ही कितने दूर हैं?'

जानने वाले को क्यों जानना नहीं चाहते? देखने वाले को क्यों देख नहीं पाते?

ज्ञायक को देखने की पूर्वशर्त यही है कि आप निर्विकल्प होने चाहिए। यदि सतत विकल्प उठते रहेंगे तो इन विकल्पों के उस पार स्थित ज्योतिर्मय का दर्शन कैसे होगा?



ज्ञाताभाव

पदार्थों का उपयोग शरीर के कारण होगा, किन्तु यह उपयोग स्वतः होता रहेगा। इसमें राग-द्वेष के भाव न्यूनतम होंगे। उस समय क्या होगा?

सब में है और सब में नाहि, तूं नट रूप अकेलो;
आप स्वभाव विभावे रमतो, तूं गुरु और तूं चेलो...

— महोपाध्याय श्री यशोविजयजी

साधक को, यहाँ तक कि साधु को भी, व्यवहार से अपने वस्त्रों एवं पात्रों का खयाल अवश्य होता है। इसीलिए वह प्रतिलेखन

आदि करता है। किन्तु आसक्ति के स्तर पर उसकी चेतना एक भी पदार्थ पर नहीं होती।

आपकी चेतना में पदार्थों की आसक्ति के रूप में विद्यमानता ही तो परिग्रह है। साधक की चेतना में ज्योतिर्मय परमात्म-रूप तथा निर्मल चैतन्य के अतिरिक्त अन्य किसी का भी प्रवेश असम्भव है।



ज्ञाताभाव

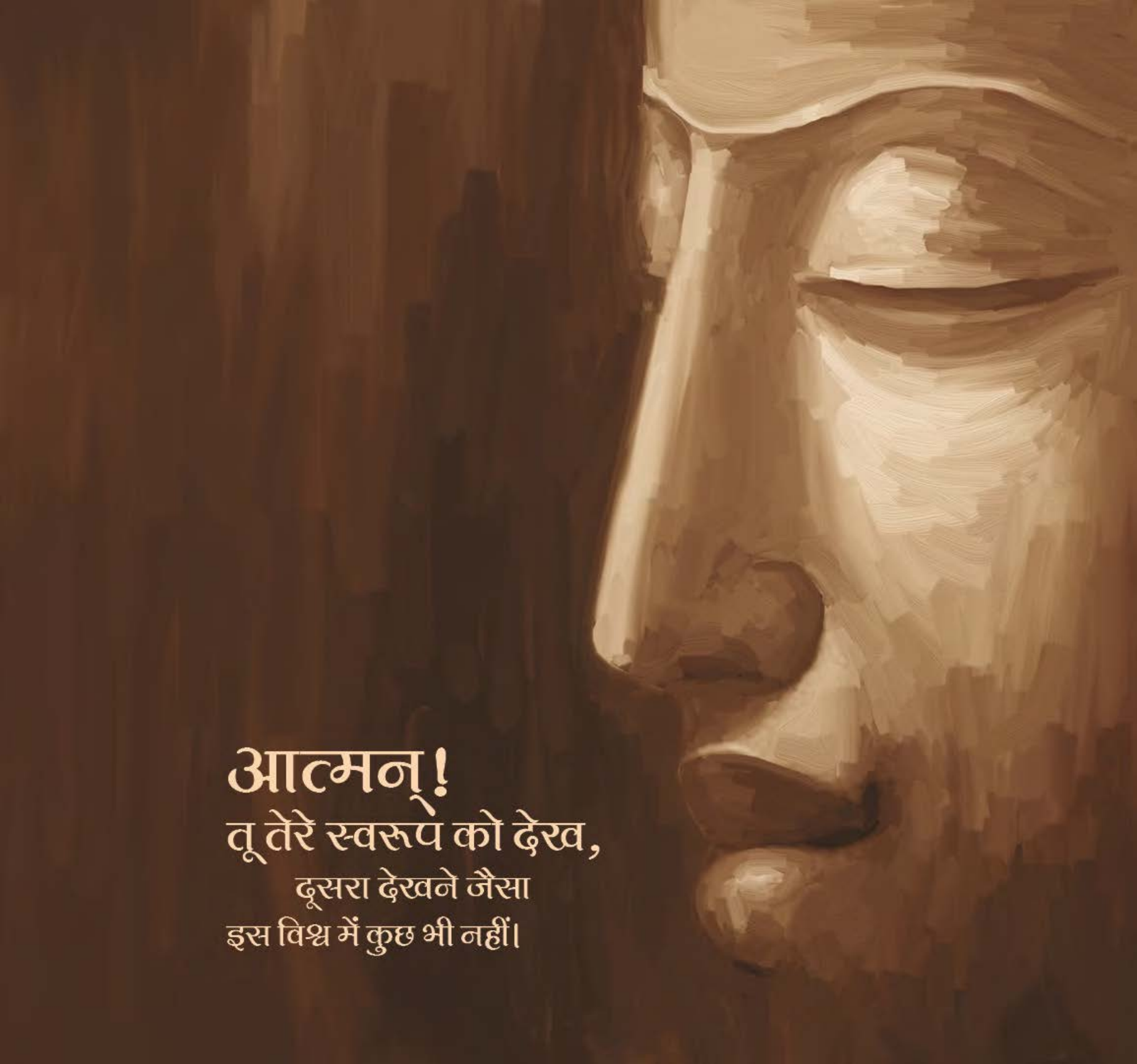
संत ने प्रवचन देते हुए कहा कि, 'जब आप नदी पार करेंगे तो आप पानी को स्पर्श नहीं करेंगे।' शिष्य तो समझ गए कि गुरु घटना रूपी नदी का संदर्भ दे रहे हैं। किन्तु उस दिन उन संत के दर्शनार्थ कुछ मेहमान बाहर से आए हुए थे, उन्होंने भी प्रवचन सुना तो वे अचरज में पड़ गए कि यह कैसे सम्भव है? नदी पर पुल तो था ही नहीं तो फिर नदी में उतर कर भी पानी का स्पर्श ना हो, यह कैसे होगा?

शाम को गुरु को कहीं बाहर जाना था, मेहमान साथ ही थे। गुरु तो पानी में उतर गए और नदी पार कर ली। यह देखकर मेहमान और विस्मित हुए।

दूसरे दिन गुरु ने प्रवचन में इसका मर्म समझाया कि, 'जब मैं नदी में उतरा तो कदाचित पानी ने मुझे स्पर्श किया होगा, किन्तु मैंने पानी को स्पर्श नहीं किया, क्योंकि मैं तो सतत उस परम चेतना के स्पर्श में हूँ।'

ज्ञाताभाव का कैसा अद्भुत दृष्टान्त है यह! जब आप 'स्व' को जानते हैं तब 'पर' से नितान्त अपरिचित हो जाते हैं।





आत्मन्!
तू तेरे स्वरूपे को देख,
दूसरा देखने जैसा
इस विश्व में कुछ भी नहीं।

ज्ञायकभाव जे एकलो, ग्रहे ते सुख साधे...



मैं मात्र ज्ञाता एवं द्रष्टा हूँ।

इस ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव को और अधिक धारदार तथा सूक्ष्म बनाना हो तो साधक को पूर्व-वर्णित चार चरण का बार-बार अभ्यास करना चाहिए। चौथे चरण में यह भाव प्रबल रूप से स्पष्ट होता है कि, 'मैं मात्र ज्ञाता एवं द्रष्टा हूँ।'

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी की ये पंक्तियाँ याद आती हैं, 'ज्ञायकभाव जे एकलो, ग्रहे ते सुख साधे...' (३)

पूज्य देवचन्द्रजी महाराज **उदासीनभाव** को चारित्र का पर्यायवाची शब्द बताते हैं।

उदासीन-भाव

उदासीन शब्द दो शब्दों का मिश्रण है : उद् + आसीन, अर्थात् ऊँचे विराजित। किनारे पर बैठकर घटनाओं की नदी को देखने की इस बात को 'ज्ञानसार' ग्रन्थ इस प्रकार प्ररूपित करता है : 'मन्यते यो जगत्तत्त्वं, स मुनिः परिकीर्तितः।' अर्थात् जगत् के तत्त्व को-उत्पत्ति तथा विनाश के मध्य स्थित शाश्वत को यदि कोई देख सकता है, तो वही मुनि है। ऐसा मुनि घटनाओं के प्रवाह में न तो तैरता है, न उसमें रत होता है और न ही बहता है।

उदासीन दशा में इतनी गहराई है कि साधक समस्त घटनाओं से अप्रभावित रहता है। पूज्य देवचन्द्रजी महाराज की एक घटना कर्णोपकर्ण कुछ ऐसी सुनी कि, सौधमेंन्द्र ने प्रभु सीमंधर स्वामी से प्रश्न किया, "हे प्रभु! वर्तमान में भरत क्षेत्र में सर्वाधिक ज्ञानीपुरुष कौन है?" प्रत्युत्तर में प्रभु ने देवचन्द्रजी का नाम दिया। इन्द्र महाराज इस बात की पुष्टि हेतु ब्राह्मण का वेश धारण करके उनके पास गए। पूज्यश्री उस समय प्रवचन दे रहे थे। अपने विशिष्ट श्रुतबल से उन्हें यह ज्ञात हो गया कि यह ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ही है। किन्तु उन्होंने अपना प्रवचन प्रवाहित रखा। न वे इन्द्र के आगमन से प्रभावित हुए, न इन्द्र को प्रभावित करने

हेतु प्रवचन का लय बदला।

इस उदासीन दशा का दूसरा नाम स्व-प्रतिष्ठितता है। मुनिराज स्व में प्रतिष्ठित थे, स्व का आनन्द तीव्र वेग से अनुभव कर रहे हैं, अब 'पर' में कैसी रुचि? लेश मात्र भी नहीं।

प्रभु के शासन को समर्पित समस्त मुनि इसी उदासीन भाव में स्थित है। जिनशासन की सभी साध्वीजी भी इसी उदासीन भाव से ओत-प्रोत हैं।

रत्नत्रयी की यह कैसी सुन्दर साधना...

साधक को मिला ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र गुण का संस्पर्श... यह संस्पर्श, निजगुण का यह अनुभव-यही तो ध्यान है... निज को निज में डुबो देने वाली यह साधना... कितना अद्भुत आनन्द होता है इन क्षणों का...

पूज्य मानविजय महाराज ने इस अनुभूति को ये शब्द दिए, 'कहीअे अणचाख्यो पण अनुभव रसनो टाणो मळियो...' (४) अनन्त अतीत में कभी अनुभूत न किया हुआ, कभी रसास्वादन न किया हुआ ऐसा यह क्षण... परम रस के आस्वादन की क्षण तो ऐसी विलक्षण ही होती हैं!

यह अनुभूति हुई कैसे? तो उत्तर में पूज्यश्री कहते हैं, 'प्रभुनी महेरे ते रस चाख्यो, अंतरंग सुख पाम्यो; मानविजय वाचक इम जंपे, हुआ मुज मन काम्यो...'

मेरी तो इसके लिए कहाँ तैयारी थी!!

बस, 'वो' बरस पड़े। अंतर्मन की धारा से उसने मुझे पूर्णतः भिगो दिया।

हे प्रभु! मैं आपका अत्यंत ऋणी हूँ।





आधार सूत्र : 5

नास्ति काचिदसौ क्रिया या आगमानुसारेण,
क्रियमाणा साधूनां ध्यानं न भवति॥

आगमानुसार कृत ऐसी कोई क्रिया नहीं जो
मुनिवरों के लिए ध्यान रूप न हो।

– ध्यानशतकवृत्ति, श्लो. १०५, आ. हरिभद्र सूरि

शुद्धानुष्ठानविकलं ध्यानं यद् दुष्टशीलिनः।
ध्यायन्ति तद्वचोमात्रं नास्थाकारि विवेकिनाम्॥

(उपमिति : ८०९)

शुद्ध अनुष्ठान रहित दुष्ट स्वभावी द्वारा प्रदर्शित
ध्यान, वचन मात्र है। विवेकशील के लिए वह
आस्था का विषय कदापि नहीं होता।

यः पुनर्मलिनारम्भी बहिर्ध्यानपरो भवेत्।
नासौ ध्यानाद् भवेत्सुद्धः सतुषर्तंडुलो यथा॥

(उपमिति : ८११)

जो मनुष्य मलिन आरम्भ युक्त, बहिर्वृत्ति, ध्यान
में तत्पर हो, उसे उस ध्यान से शुद्धि प्राप्त नहीं
होती, जैसे छिलके वाला चावल शुद्ध नहीं होता।

05 | समिति साधना

मुम्बई के गोवलिया टैंक जैन संघ के आराधना भवन में प्रभात कालीन चतुर्विध संघ की वाचना में एक बार ईर्या समिति की बात चली। मैंने कहा, जब आप ईर्यापूर्वक नीचे दृष्टि करते हुए चलते हैं, तब आप न केवल प्रभु-आज्ञा पालन करते हैं, बल्कि साथ ही दृष्टि संयम तथा निर्विकल्प दशा की अल्पानुभूति भी प्राप्त करते हैं।

नीची दृष्टि रखकर चलने वाले तथा अपने समक्ष पुस्तक रखकर स्वाध्याय करने वाले साधक को दृष्टि संयम अवश्य प्राप्त होता है। फिर उसकी आँख यत्र-तत्र नहीं भटकती।

कई बार ऐसा होता होगा कि आप स्वाध्याय कर रहे होते हैं कि किसी के आने की चहल-पहल सुनाई देती है, और स्वभाववश आपकी आँखे ऊपर उठती हैं। वह व्यक्ति आपसे मिलने नहीं आया, फिर भी संस्कारवश आपकी आँखे उसे देखने हेतु उठती हैं। दृष्टिसंयम के अभ्यास से अब ऐसा होना कम होगा।

किसी के आने की चहल-पहल हो..., और आपकी आँखे उठे, किसी के... परमात्मा के पदध्वनि की नहीं...!! मीरां से ईर्ष्या होती है, 'सुनी रे मैंने हरि आवन की आवाज...'

इन्द्रिय संयम के साथ निर्विकल्प दशा भी मिलती है। ईर्यापूर्वक चलते समय आप पांच प्रकार के स्वाध्याय में से एक भी नहीं करते। न माला, न सूत्रपाठ। शुभ विचार-अनुप्रेक्षा भी नहीं कर सकते। परम पावन उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार आप मात्र ईर्यामूर्ति हैं, ईर्या-पुरस्कृत हैं।^(१)

उस वाचना के कुछ दसैक दिन बाद एक साधक दोपहर में आकर बोला, 'साहेब! ईर्यापूर्वक चलने का अद्भुत अनुभव हुआ।

मेरा घर उपाश्रय के निकट ही है, इसलिए ईर्यापूर्वक चलकर ही जिनालय तथा उपाश्रय आता हूँ। उस समय मानो समस्त विचार विराम प्राप्त कर जाते हैं। अत्यंत आनन्द अनुभूत होता है, अब यह साधना में जारी रखूँगा।'

एक बार मुनिवरों के समक्ष वाचना में मैं ध्यान की व्याख्या प्रस्तुत कर रहा था कि, 'निर्विकल्प दशा की अनुभूति की पृष्ठभूमि पर स्वगुणानुभूति या स्वरूपानुभूति ही ध्यान है।'

एक मुनि ने प्रश्न किया, 'यह निर्विकल्पता कैसे प्राप्त होगी?'

मैंने हँसते-हँसते कहा, 'हमारी साधना ही तो हमें निर्विकल्पता प्रदान करेगी!! यदि चातुर्मास के अतिरिक्त शेषकाल में हम विहार करते समय ईर्यापूर्वक चलेंगे तो निर्विकल्प दशा अत्यंत सहज रूप से प्राप्त होगी। मात्र उपयोग से चलना, पूर्ण होश, पूर्ण जागृति... विकल्प तो स्वतः स्वाहा हो जाएंगे।'

जैसे ईर्या एक अनुभूति है वैसे ही भाषा समिति भी दिव्य अनुभूति है। बोलते समय पूरा उपयोग हो कि प्रभु आज्ञा के अतिरिक्त एक शब्द का भी उच्चारण न हो।

अवैष्णव समिति में भी जागृति की ही बात है। साधना करते हुए भी शरीर को तो आहार चाहिए, किन्तु मात्र प्रभुआज्ञा के अनुसार। भोजन करते समय भोजन स्वादिष्ट है या नहीं - ऐसा भाव लेश मात्र भी उत्पन्न न हो, यह सावधानी साधक को रखनी है।

१. इंदियत्ये विवज्जित्ता, सज्झायां चैव पंचहा। तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, संजये इरियं वए।। - उत्तराध्ययन सूत्र

निक्षेपणा समिति की गहराई तो देखिए, यदि कोई चीज हाथ में उठानी हो, तो पहले उसे ऊपर से पूंजना, फिर हाथ पूंजना, फिर उस चीज को उठाना। इसी प्रकार कोई चीज रखनी हो तो पहले उसे नीचे से पूंजना, फिर उस स्थान का प्रमार्जन करना, फिर वहाँ वह चीज रखना। उपयोग की कैसी अद्भुत सूक्ष्मता प्राप्त हो जाती है।

एक बार एक साधक अपने कंधे की प्रमार्जना कर रहे थे। यह देखकर उसी समय कक्ष में प्रवेश करते हुए अन्य व्यक्ति को जिज्ञासा हुई कि यह साधक अकारण कंधे की प्रमार्जना क्यों कर रहा होगा! पूछने पर साधक बोला, 'अभी एक मक्खी मेरे कंधे पर बैठी, उपयोगदशा के अभाव में मेरा हाथ उस मक्खी को उड़ाने हेतु तुरन्त मेरे कंधे पर गया। मक्खी तो उड़ गई, किन्तु अप्रमार्जित कंधे पर मेरा हाथ लगा। साधक के लिए यह वृत्ति उचित नहीं, इसलिए मेरे हाथ को इस क्रिया हेतु अभ्यस्त बना रहा हूँ।'

पारिष्ठापनिका समिति में भी उपयोग की गहनता है। भूमि पर पानी कैसे परठना? जयणापूर्वक।

पारिष्ठापनिका का सूक्ष्म स्वरूप पूज्य देवचन्द्रजी महाराज 'अष्टप्रवचन माता की सज्जाय' में इस प्रकार दर्शाते हैं, 'वळी ओह द्रव्यथी भावे परठवे रे, बाधक जे परिणाम; द्वेष निवारी मादकता विना रे, सर्व विभाव विराम... आतम परिणति तत्त्वमयी करे रे, परिहरता पर भाव; द्रव्य समिति पण भाव भणी धरे रे, मुनिनो ओह स्वभाव...'

सार यह कि द्रव्य से अनुपयोगी वस्तुओं को परठने वाला साधक भाव से साधना में बाधक इच्छाओं को परठता है। और इस प्रकार वह आत्म-परिणति को तत्त्वमयी करता है।

'ज्ञानसार' ग्रन्थानुसार इन पांच समितियों को उजागर अवस्था की छोटी आवृत्ति माना जा सकता है।

समिति-पालन करते समय जागृति का वह बोध, उपयोग का सातत्य - यही है उजागर दशा का सूक्ष्म अंश।

वहाँ अत्यंत सुन्दर श्लोक दिया है :

न सुषुप्तिरमोहत्वाद्, नापि च स्वापजागरौ।

कल्पनाशिल्पविश्रान्ते-स्तुर्यैवानुभवो दशाः॥

कैसा है यह अनुभव? शब्दातीत तथा विकल्पातीत यह कौनसी घटना है?

यह सुषुप्ति नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में, अर्थात् निद्रावस्था में जागृति नहीं रहती। यह स्वप्नावस्था या कथित जागृत अवस्था भी नहीं, कारण कि इन दोनों अवस्थाओं में विकल्पों की रैली चलती है। इसलिए यह अनुभव उजागर दशा का छोटा सा संस्करण है।

उजागर दशा तेरहवें गुणस्थानक में होती है। किन्तु उसकी छोटी सी झलक यहाँ दिखाई देती है, जहाँ साधक पूर्ण जागृत है।

समिति शब्द 'सम् + इति' शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है सम्यक् प्रवृत्ति। सम्यक् रूप से चलना, सम्यक् रूप से बोलना आदि।

किसी प्रबुद्ध साधक को एक जिज्ञासु ने पूछा, 'किसी साधक ने उच्च स्थिति प्राप्त की है या नहीं, इसका निर्णय कैसे लिया जाए?'

साधक ने उत्तर दिया कि, 'उसके उठने-बैठने, उसके चलने-फिरने की क्रिया पर दृष्टि करो, तो पता चल जाएगा। सच्चा साधक ये समस्त क्रियाएँ जागृति तथा मृदुतापूर्वक करता है।'

जागृति बाह्य क्रियाकलापों को आंतरिक परिणामों से जोड़ने का कार्य करती है। उस समय की साधक की स्थिति का स्वरूप परम पावन श्री उत्तराध्ययन सूत्र में दर्शाया है कि : 'चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो।' साधक एक-एक चरण, एक-एक कदम उठाते हुए सशंक होता है, कि कहीं यह कार्य करते हुए मुझे राग, द्वेष या अहंकार न आ जाए। एक जागृत साधक के रूप में मेरा प्रत्येक चरण प्रभु द्वारा प्ररूपित मार्ग पर ही पड़ना चाहिए।

आइये! प्रभु द्वारा प्रदान की गई इस जागृति को आत्मसात् करें... यह जागृति ध्यान का ही रूप है।





आधार सूत्र : 6

जो किर जयणापुव्वो, वावारो सो ण झाणपडिवक्खो।
सो चेव हवइ झाणं, जुगवं मणवयणकायाणं॥

– अध्यात्ममतपरीक्षा, महो. यशोविजयजी

जयणापूर्वक की गई क्रिया ध्यान-विरोधी नहीं होती,
अपितु समिति, गुप्ति आदि पूर्वक की गई साधना से
एक साथ ही मन, वचन तथा काया के योगों का
ध्यान सम्भव है।

ध्यान, अर्थात् योग में एकाग्रता।



थिर करी राखे जे उपयोग, करतो तत्त्वतणों आभोग ;
आतमसार ते चित्तमां धरे, इण विधि परमात्म पद वरे।

– पंच परमेष्ठि मंत्रराज ध्यानमाला १/१४

अर्थात् उपयोग को स्थिर करके आत्मतत्त्व के आस्वाद
को जो चित्त में स्थिर करके रखता है, वही परमात्म
पद प्राप्त करता है।

06 | गुप्ति साधना

कायोत्सर्ग तथा ध्यान त्रिगुप्ति साधना के अंग हैं। गुप्ति के दो प्रवाह हैं, शुभरूप गुप्ति तथा शुद्धरूप गुप्ति।

मन, वचन तथा काया के योगों को शुभ भाव में रखना शुभरूप गुप्ति, तथा इन तीनों योगों को नितान्त स्थिर एवं एकाग्र बनाना शुद्ध गुप्ति है।



शुद्ध गुप्ति के क्षणों के मधुर स्वाद का आनन्द पूज्य देवचन्द्रजी महाराज 'अष्ट प्रवचन माता की सज्जाय' में व्यक्त करते हैं। वचन गुप्ति की सज्जाय में एक सुन्दर पंक्ति है :

भाषा पुद्गल वर्णना, ग्रहण निसर्ग उपाधः
करवा आत्मवीर्यने, शाने प्रेरे साध?...

बोलते समय क्या होता है? भाषा वर्णना के पुद्गल आप पहले पकड़ते हैं, फिर छोड़ते हैं। किन्तु इस प्रवृत्ति में आत्मशक्ति का 'व्यय' तो होता ही है। पूज्यश्री यहाँ एक मार्मिक प्रश्न करते हैं कि, क्या साधक इन पुद्गलों को पकड़ने तथा छोड़ने हेतु आत्मशक्ति का 'उपयोग' कर सकता है?

साधक मौन में एकाग्रता प्राप्त करता है। हाँ! यदि प्रभु आज्ञानुसार बोलना होगा तो शुभ वचनगुप्ति का पालन किया जाएगा।



मनोगुप्ति की सज्जाय में एक हृदयंगम कड़ी है :
परसहाय गुणवर्तना रे, वस्तुधर्म न कहाय;
साध्यरसी ते किम ग्रहे रे, साधु चित्त सहाय।

अत्यंत अद्भुत बात कही। गुजराती भाषा में विरचित आनंदमय साधनासूत्र। यहाँ अनालंबन की छोटी सी आवृत्ति को केन्द्र में रखते हुए चर्चा की गई है।

प्रभु के प्यारे से रूप को देखकर, प्रभु के प्रेम भरे शब्द सुनकर/पढ़कर भाविक स्वगुण या स्वरूप की धारा में चला जाए, यही आलंबन ध्यान है।

यदि इस आलंबन ध्यान का और अधिक अभ्यास हो जाए, तो फिर साधक द्वारा ध्यान हेतु बैठते ही सहज रूप से आंतरिक ध्यान यात्रा प्रारम्भ हो जाती है, यही अनालंबन ध्यान की छोटी आवृत्ति है।^(१)

यहाँ मूल बात यह है कि जब साधक को स्वगुणों में ही रमण करना है तो फिर वह शब्दों का या अनुप्रेक्षा का सहारा क्यों ले? 'साध्यरसी ते किम ग्रहे रे, साधु चित्त सहाय...' अपने ही घर जाना हो तो फिर किसी से रास्ता पूछने की क्या आवश्यकता? इसी प्रकार जब स्वयं में ही चित्त लगाना है तो फिर मन की या विचारों की क्या आवश्यकता? एक बार चित्त एकाग्र हुआ तो साधक की स्व की ओर की यात्रा प्रारम्भ हो जाती है।

विचारों के उस पार जाने की इस साधना को उन्मनीकरण कहते हैं। योगसार ग्रन्थ की यह पंक्ति स्मृति पटल पर उभर आती है : 'उन्मनीकरणं तद् यद् मुनेः शमरसे लयः।' इधर विचारों पर विराम लगा, उधर अस्तित्व द्वारा समत्व की अनुभूति प्रारम्भ हुई। विकल्पों में उलझे रहने के कारण वह राग-द्वेष की असमंजस में था। विकल्पों के उस पार तो आनन्द है! मात्र आनन्द।



शुद्ध मनोगुप्ति के संदर्भ में योगशास्त्र के १२ वें प्रकाश में आए हुए कलिकालसर्वज्ञजी के अत्यंत सुन्दर वचनों का सार देखिए ^(२) :

‘उदासीन भाव में डूबा हुआ तथा वैभाविक प्रवृत्तियों से दूर स्थित साधक ऐसे आनन्द में मग्न होता है कि उसका मन अन्यत्र कहीं नहीं भागता।’

यदि स्वयं की परिपूर्णता अनुभूत कर ली तो मन का ‘पर’ की ओर जाने का प्रश्न ही कहाँ?

किसी तीर्थ की धर्मशाला में साँझ के समय कोई भक्त आया, भोजनादि करके प्रभुभक्ति की। फिर अपने कक्ष में रहने गया। आधुनिक धर्मशाला के कक्ष में वाँछित समस्त सुविधाएँ होती ही हैं। अब यह भक्त सुबह तक भला बाहर क्यों निकले? किन्तु यदि धर्मशाला पुराने जमाने वाली होगी तो लघुशंका आदि हेतु बाहर निकलना पड़ेगा।

स्वयंसम्पूर्णता का बोध आपके मन को ‘पर’ की ओर जाने ही नहीं देगा।



विकल्पों के उस पार स्थित आपके आंतरिक वैभव की अनुभूति का जो कारण है, वह है - शुद्ध मनोगुप्ति।

सवा सौ गाथाओं के स्तवन में पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने एक सुन्दर पंक्ति लिखी:

एकताज्ञान निश्चय दया, सुगुरु तेहने भाखे;

जेह अविकल्प उपयोगमां, निज प्राणने राखे ... ४/१०

निश्चय अहिंसा ही आत्मानुभूति है, और इसे प्राप्त करने का मार्ग है - निर्विकल्प दशा में रमण। निर्विकल्पता पर इतना ध्यान केन्द्रित क्यों किया गया है? इसका कारण यह है कि विकल्प से ही विभावों को उत्तेजना मिलती है।

विभावों की अंगीठी के जलते अंगारे इन दो तरीकों में परिणत हो सकते हैं : एक, आप इन अंगारों पर जागृति की राख डालकर शांत कर सकते हैं, दूसरे, उन पर विकल्पों की हवा देकर आग भी आप भड़का सकते हैं।

मानो, आप अपने कक्ष में बैठे हैं, कि एक व्यक्ति वहाँ प्रवेश करता है। आपको उस व्यक्ति के प्रति घृणा है, इसलिए उसे देखते ही आपके भीतर तिरस्कार के भाव प्रस्फुटित होंगे। किन्तु यदि उसी समय जागृति आए कि, ‘अरे...! ये तो भविष्य में होने वाले सिद्ध भगवंत हैं...’ इस जागृति के साथ ही अंगारे बुझ जाएँगे। किन्तु यदि मन में विकल्पों की बयार चली तो...? ‘इस व्यक्ति के कारण मुझे कितना नुकसान हुआ? हर जगह इसने मेरी बुराई की...।’ तो अंगारे आग में बदल जाएँगे।

२. औदासीन्यनिमग्नः प्रयत्नपरिवर्जितः सततमात्मा। भावितपरमानन्दः क्वचिदपि न मनो नियोजयति॥ - योगशास्त्र १२/३३

A person with short brown hair, wearing a white and black garment, is sitting cross-legged on a stone ledge inside a dark cave. They are looking out through a large, irregular opening in the cave wall. Outside, a bright, hazy landscape with rolling hills and a body of water is visible. The scene is illuminated by the bright light from the opening, creating a strong contrast with the dark interior of the cave.

विकल्पों के उस पार तो
आनन्द है...
मात्र
आनन्द।

शुद्ध 'मनोगुप्ति' आपको विकल्पों के उस पार ले जाने में समर्थ है। शुभ मनोगुप्ति द्वारा प्राप्त हुई एकाग्रता भी यह कार्य कर सकती है।



शुद्ध कायगुप्ति : जिनमुद्रा या अन्य किसी मुद्रा में बिना हिले-डुले, निष्प्रकंप खड़े होना या बैठना शुद्ध कायगुप्ति है।



अनुष्ठान के दौरान हम जो कायोत्सर्ग करते हैं, इसमें तीन गुप्तियों के शुभत्व या शुद्धत्व का अनुपात इस प्रकार होगा : कायगुप्ति 'शुद्ध' है तथा मनोगुप्ति एवं वचनगुप्ति 'शुभ' है। लोगस्स सूत्र या नवकार महामन्त्र का मानस जाप कर रहे हैं, इसलिए शुभ वचनगुप्ति होगी। इसमें मनोयोग भी जोड़ना है इसलिए मनोगुप्ति भी शुभ है। इस कायोत्सर्ग को 'चेष्टा कायोत्सर्ग' कहते हैं।

कायोत्सर्ग निर्युक्ति में 'अभिभव कायोत्सर्ग' का संदर्भ भी आता है ^(३), जिसमें तीनों गुप्तियाँ 'शुद्ध' हो सकती हैं। यहाँ कोई सूत्रोच्चारण है ही नहीं। विकल्पों के उस पार पहुँच चुका साधक कायोत्सर्ग में निज के समत्व का, 'स्व' के आनन्द को प्राप्त करता है।



यहाँ एक प्रश्न उद्भव होता है : ध्यान भी त्रिगुप्ति साधना है और कायोत्सर्ग भी त्रिगुप्ति साधना है, फिर दोनों में क्या भेद?

कायोत्सर्ग में ऊपर बताए अनुसार गुप्तियों के शुभत्व एवं शुद्धत्व के अनुपात में परिवर्तन होता है। ध्यान में यह अनुपात कुछ ऐसा है : साधक खड़े होकर या बैठकर ध्यान करे, काया को स्थिर रखे, उस समय तीनों गुप्तियाँ शुद्ध होती हैं। विकल्पों के पार जाकर साधक अपने समत्व आदि की अनुभूति करता है।

ध्यान में एक दूसरा अनुपात भी कुछ ऐसा होता है-कायगुप्ति शुभ तथा अन्य दो गुप्तियाँ शुद्ध।

परम पावन श्री आचारांग सूत्र की टीका में पूज्य शीलाकाचार्य ने प्रभु महावीर देव के ईर्यापूर्वक चक्रमण को भी ध्यान की उपमा दी है। ^(४)

साधक ईर्यासमिति पूर्वक चलता है, उस समय कायगुप्ति 'शुभ' की हुई। किन्तु वह मात्र मार्ग को ही देख रहा है, कोई अन्य विचार या कोई स्वाध्याय भी उसके मन में नहीं, अतः वचनगुप्ति और मनोगुप्ति 'शुद्ध' की हुई।

कितनी अद्भुत है,
यह त्रिगुप्ति साधना!!

३. सो उस्सग्गो दुविहो, चिट्ठाए अभिभवे य नायत्त्वो।
भिवखायरियाइ पढमो, उवसग्गाभिजुंजणे विइओ॥ - कायोत्सर्गनिर्युक्ति : १४५४
४. तदेव चात्र ध्यानं यदीर्यासमितस्य गमनमिति॥ १/१/५





आधार सूत्र : 7

आपे आप विचारतां, मन पामे विसराम;
रसास्वाद सुख ऊपजे, अनुभव ताको नाम.
आत्म अनुभव तीर से, मीटे मोह अंधार;
आप रूप में झळहळे, नहि तस अंत ओ'पार.

– अध्यात्म बावनी (पू. चिदानंदजी महाराज)

विकल्पों के पार जाकर आत्मस्वरूप को एकाग्रता से साध कर साधक एक अद्भुत रस का आस्वादन करता है। यह रस ही अनुभव है। आत्मानुभूति का किनारा आते ही मोह का अंधकार हट जाता है और यह अनुभूति अपने मार्ग पर आगे बढ़ती ही जाती है।

स्नानं मनोमलत्यागो, दानं चाभयदक्षिणा।
ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधो, ध्यानं निर्विषयं मनः॥

मन का मैल साफ करना ही वास्तविक स्नान है। अभयदान ही वास्तविक दान है। तत्त्व के अर्थ की जानकारी ही असली ज्ञान है और आसक्ति (विषय) मुक्त मन की प्राप्ति ही ध्यान है।

07 | ध्यान के प्रकार

विहरमान प्रभु सुबाहु जिन के स्तवन में पूज्य देवचन्द्रजी महाराज ने भक्ति के लय में ध्यान का क्रम बताया है :

यद्यपि हुं मोहादिके छलियो, परपरिणतिसुं भळियो रे...

हवे तुज सम मुज साहिब मळियो, तिणे सवि भवभय टळियो रे...३

हे प्रभु! यद्यपि मोहादि के कारण मुझ पर पर-परिणति तथा विभाव का असर था, किन्तु आपके जैसा नाथ मिलते ही मैं विभावों की पकड़ से अवश्य दूर हो जाऊँगा, मुझे ऐसी पूर्ण श्रद्धा है।

आपके मार्ग पर चलते-चलते मैं विभावों पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर पाऊँगा। इसकी क्या विधि होगी, तो वे कहते हैं :

ध्येय स्वभावे प्रभु अवधारी, दुर्ध्याता परिणति वारी रे...

भासन वीर्य एकताकारी, ध्यान सहज संभारी रे...४

यहाँ चार चरण प्रस्तुत किए गए हैं : (१) ध्येय रूप में प्रभु को निश्चित करना, (२) मन को आर्त-रौद्र ध्यान में जाने से रोकना, (३) ज्ञानोपयोग को स्व-परिणति की ओर ले जाना, (४) ध्यान की धारा में सहज बह जाना।

प्रथम चरण : मेरा ध्येय है - परमात्मा। सत्ता के रूप में तो मेरे अंदर भी वे ही गुण हैं, जो अरिहंत तथा सिद्ध प्रभु में हैं, किन्तु मेरे ये गुण कर्मों से आवृत्त हैं। मुझे अपने इन गुणों को प्रकट करना है। दृष्टि सतत प्रभु की ओर होगी तभी इस मार्ग में आगे बढ़ा जा सकता है।

द्वितीय चरण : मन को आर्त तथा रौद्र ध्यान में जाने से रोकना है।

इष्टवियोग तथा अनिष्ट-संयोग के कारण मन में पीड़ा होती है और इसी कारण कर्म बंध होता है। स्वाध्याय आदि शुभ प्रवृत्तियों द्वारा मन को आर्तध्यान में जाने से रोका जा सकता है।

अनुबंध या परम्परा की हिंसा ही रौद्रध्यान है, इसे भी रोकने की आवश्यकता है।

तृतीय चरण : ज्ञानोपयोग को स्व-परिणति की ओर ले जाना। ज्ञान तभी सार्थक बनता है जब यह ज्ञायक की ओर जाए, ज्ञायक को अनुभव करवाये।

इतना होने के बाद **चतुर्थ चरण** आएगा, सहज रूप से ध्यान की धारा में बह जाना।

ध्यान, सहजता के किनारे होने वाली यात्रा है, इसे असहज रूप से, आयास पूर्वक कैसे किया जा सकता है? हमारी मूल धारा तो यह ही है। विभाव में जाने हेतु आयास करना पड़ता है, ध्यान तो अनायास ही होता है।



ध्यान की यह धारा जब और आगे बढ़ती है, तब -

ध्याता ध्येय समाधि अभेदे, परपरिणति विच्छेदे रे...

ध्याता साधकभाव उच्छेदे, ध्येय सिद्धता वेदे रे...५

ध्यान की धारा जब आगे बढ़ती है, तब ऐसा परिणाम आता है कि - ध्याता, ध्येय तथा ध्यान (समाधि) का अभेद परपरिणति का विच्छेद करता है। क्योंकि अभेद के इन क्षणों में ध्याता की चेतना का ध्येय के गुणों के साथ तादात्म्य हो जाता है।

जब ध्याता की चेतना ध्येय में घुल गई, एकाकार हो गई तो फिर विभाव कैसे रहेगा ?

ध्याता की ध्येय की ओर होने वाली यह यात्रा ही धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान है।

आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान हमने संक्षेप में देखा। इन्हें दूर करके साधक धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान की ओर प्रयाण करता है।



धर्मध्यान

धर्मध्यान के चार प्रकार हैं : (१) आज्ञा विचय, (२) अपाय विचय, (३) विपाक विचय तथा (४) संस्थान विचय।

प्रथम-आज्ञा विचय : परमात्मा की आज्ञा पर अनुप्रेक्षा करना। राग, द्वेष तथा अहंकार को शिथिल करने हेतु प्रभु-आज्ञा ही शस्त्र है। साधक, आंतरिक निरीक्षण करेगा कि साधना की गहराई के साथ राग, द्वेष तथा अहंकार शिथिल हुए या नहीं।

द्वितीय-अपाय विचय : राग-द्वेष से भरी इस आत्मा को इहलोक तथा परलोक में कितनी पीड़ा उठानी पड़ती है - इस बात का विचार करना अपाय विचय है।

तृतीय-विपाक विचय : कर्म के बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि के विचार करते हुए, इनसे परे आत्मसत्ता में लीन होना विपाक विचय है।

चतुर्थ-संस्थान विचय : लोकाकाश आदि का स्वरूप, उसकी आकृति (संस्थान) आदि का विचार करना ही संस्थान विचय है।

अनित्य आदि भावना भावित करते हुए साधक जिस प्रकार आत्मा के नित्यत्व आदि में अपनी अनुप्रेक्षा (भावना) केन्द्रित करते हुए स्व-गुण की धारा में बहता है; उसी प्रकार यहाँ भी आज्ञा-विचय आदि पर भाव केन्द्रित करते हुए स्व-गुण की धारा में बहा जा सकता है।



आज्ञा-विचय ध्यान में 'प्रभु की आज्ञा 'पर' की ओर दृष्टि करने की नहीं अपितु 'स्व' की ओर गति करने की है, अतः मुझे क्षमा आदि गुणों का पालन करना चाहिए'—ऐसा विचार किया जा सकता है।

अपाय-विचय ध्यान में राग-द्वेष से होने वाली पीड़ा का अनुभव करते हुए साधक क्षमा, अनासक्ति, निरहंकार दशा आदि गुणों में अपनी चेतना प्रवाहित करता है।

विपाक-विचय ध्यान में बंध, उदय आदि की अनुप्रेक्षा करते हुए साधक अब तक हुई उदयानुगत चेतना को स्वभावानुगत करने की चेष्टा करता है।

अर्थात् पहले कर्म के उदय से होने वाली शांता-अशांता आदि में चेतना रत हो जाती थी, किन्तु अब ऐसा विचार किया जा सकता है कि कर्मोदय से तो मेरे कर्मों की निर्जरा हो रही है, और मैं कर्मों के भार से मुक्त हो रहा हूँ।

संस्थान-विचय में लोकाकाश के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए वहाँ होने वाले जन्म-मृत्यु आदि की अनुप्रेक्षा करते हुए साधक अजन्मा बनने की साधना की ओर कदम बढ़ाता है।

शुक्लध्यान

शुक्लध्यान के आलंबन के रूप में क्षमा, मृदुता, ऋजुता आदि गुण हैं। इन आलंबनों के सहारे साधक शुक्लध्यान में अग्रसर होता है।

शुक्लध्यान का प्रथम प्रकार : पृथक्त्व-वितर्क-सविचार :

यहाँ साधक श्रुतज्ञान का आलंबन लेकर किसी भी पदार्थ या आत्मद्रव्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। यहाँ द्रव्य एक ही है, किन्तु इसके विभिन्न पर्यायों पर चिंतन किया जा सकता है। जैसे, आत्मतत्त्व का ध्यान करते हुए उसके नित्यत्व, अनित्यत्व आदि पर्यायों में उपयोग धरा जा सकता है।

वितर्क, अर्थात् श्रुत...

पृथक्त्व अर्थात् भिन्नता...

सविचार अर्थात् संक्रमणशीलता...

उपयोग अर्थ से शब्द की ओर तथा शब्द से अर्थ की ओर जा सकता है। उपयोग को काया की निश्चलता की ओर भी मोड़ा जा सकता है।

इस प्रकार इस ध्यान में शब्द, अर्थ तथा योग का संक्रमण होने के कारण यह ध्यान 'सविचार' ध्यान है। यहाँ ध्याता, ध्यान तथा ध्येय की भिन्नता होने के कारण पृथक्त्व (भिन्नता) है।

शुक्लध्यान का द्वितीय प्रकार : एकत्व-वितर्क-अविचार :

इसमें साधक द्रव्य के एक ही पर्याय की गहराई में उपयोग स्थिर करता है। यह 'अविचार' ध्यान होने के कारण शब्द या अर्थ में कोई उपयोगान्तर होने की संभावना नहीं है। ध्याता अपनी चेतना को ध्येय में डुबा देता है, अतः यहाँ ध्याता तथा ध्येय एकाकार हो जाते हैं।

संक्षेप में, द्रव्य के मात्र एक पर्याय (उत्पाद, व्यय, नित्यत्व या अनित्यत्व-किसी एक पर्याय) में श्रुत का आलंबन लेकर गहराई में उतरना, यही शुक्ल ध्यान का दूसरा प्रकार हुआ।

शुक्ल-ध्यान का तृतीय प्रकार : सूक्ष्मक्रिया अनिवर्ती :

मोक्ष प्राप्ति के अन्तर्मुहूर्त पूर्व (शैलेशीकरण से पहले) केवली-समुदघात द्वारा अथवा सहज रूप से अघाती कर्मों की समान स्थिति होने से योगनिरोध होता है।

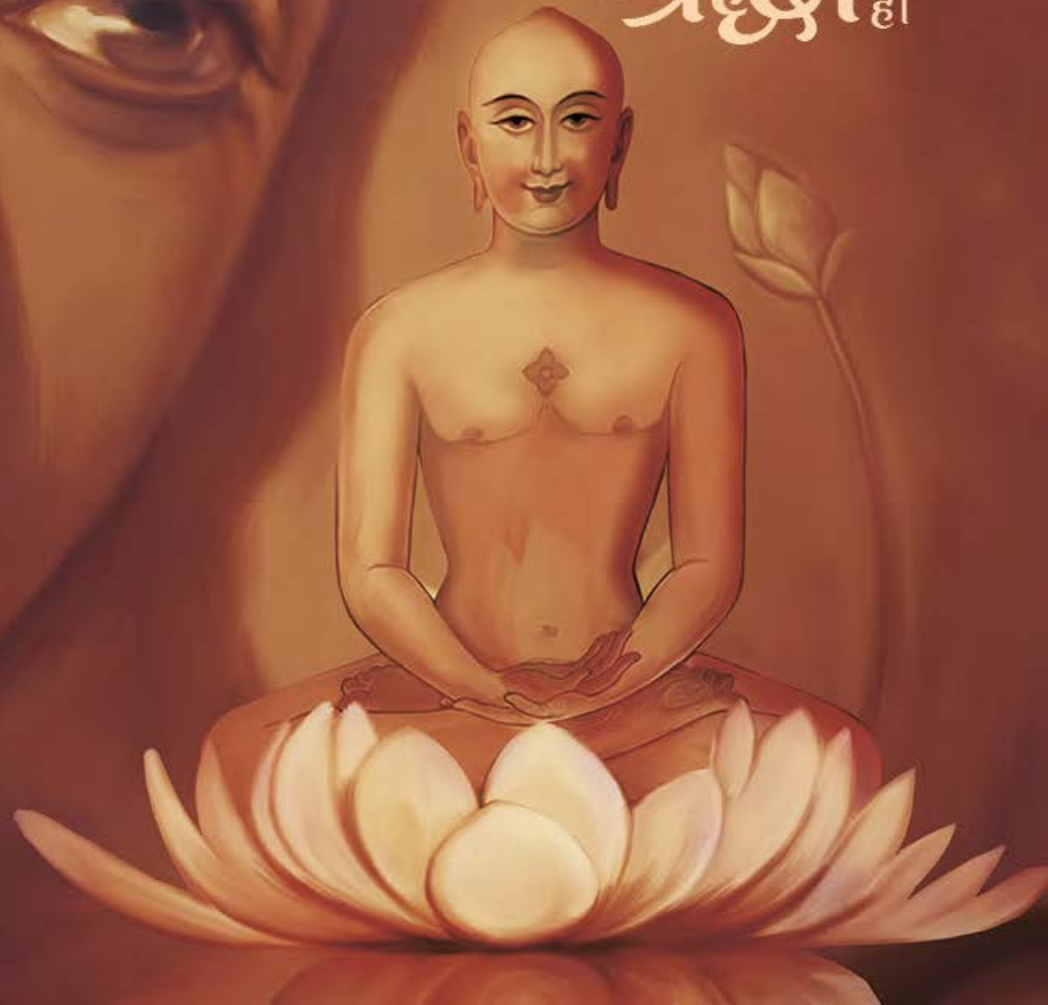
उसमें सर्वप्रथम मनोयोग का सर्वथा निरोध, फिर वचनयोग का सर्वथा निरोध और फिर काययोग का अर्ध निरोध होता है, उस समय सूक्ष्म क्रिया होने के कारण शुक्ल-ध्यान का यह प्रकार उपस्थित होता है। सूक्ष्मक्रिया का पूर्ण निरोध नहीं हुआ, इसलिए इस क्रिया का नाम सूक्ष्मक्रिया अनिवर्ती है।

शुक्ल-ध्यान का चौथा प्रकार : व्युपरत-क्रिया-अप्रतिपाती :

चौदहवें गुणस्थानक में आत्मा की अयोगी अवस्था में यह चौथा भेद होता है। यहाँ सूक्ष्म कायक्रिया भी नहीं होती अतः इसे व्युपरत क्रिया कहते हैं। साथ ही शाश्वत काल तक यही अयोगी अवस्था ही रहेगी, अतः अप्रतिपाती है। इसलिए इस भेद का नाम व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती है।

ध्यान द्वारा ध्याता को ध्येय में रत करने की यह अद्भुत प्रक्रिया!

आपके जैसा नाथ
मिलते ही मैं
विभावों की
पकड़ से
अवश्य दूर हो जाऊँगा,
मुझे ऐसी पूर्ण
श्रद्धा है।







आधार सूत्र : 8

रहत विकार स्वरूप निहारी,
ताकी संगत मनसा धारी;
निज गुण अंश लहे जब कोय,
प्रथम भेद तिणि अवसर होय...९३

– स्वरोदयज्ञान (पू. चिदानन्दजी)

अपने भीतर उठने वाले विकारों को साधक देखता है, मन में उन विकारों को मात्र देखने का उपयोग चलता है, यह देखने की क्रिया ही द्रष्टाभाव है। यहाँ दर्शनरूपी गुण की प्राप्ति हुई और यही रूपस्थ ध्यान है।



उग्यो समकित रवि जळहळतो,
भरम तिमिर सवि नाठो रे...
अनुभव गुण आव्यो निज अंगे,
मिट्यो निज रूप माठो रे...

– श्रीपाल रास, खंड ४, ढाल १३, महो. यशोविजयजी

जब सम्यक्त्व का सूर्य जगमगाते हुए उदित होता है, तब भ्रम रूपी अंधकार दूर हट जाता है, अनुभूति प्राप्त होती है तथा शरीर आदि में 'मैं' की बुद्धि का नाश होता है।

धर्मध्यान की यात्रा में जो ध्यान सहायक बनते हैं, वे हैं-पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत। योगशास्त्र में कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्यजी ने इन समस्त प्रकार के ध्यान का वर्णन किया है तथा इनकी विभावना दी है। यह विभावना अत्यंत हृदयंगम है।

योगीश्वर चिदानन्दजी ने ध्यान की इस विभावना से थोड़े अलग आयाम में 'स्वरोदयज्ञान' ग्रन्थ में विभावना दी है। ध्यान की यह विभावना भी अत्यंत लुभावनी है, आइये, देखते हैं कि चिदानन्दजी महाराज क्या कहते हैं :

ध्यान चार भगवंत बतावे,
ते मेरे मन अधिक भावे;
रूपस्थ पदस्थ पिण्डस्थ कहिजे,
रूपातीत साध शिव लीजे...९२

प्रभु ने चार प्रकार के ध्यान बताए हैं और प्रभु ने बताए हैं इसलिए मुझे अधिक प्रिय हैं। रूपस्थ, पदस्थ, पिण्डस्थ, तथा रूपातीत ध्यान को प्राप्त करके साधक मुक्तिपुरी की यात्रा में आगे बढ़ता है।



विकारों को मात्र
देखना
है।



पहला : रूपस्थध्यान का वर्णन :

रहत विकार स्वरूप निहारी,
ताकी संगत मनसा धारी;

निज गुण अंश लहे जब कोय,
प्रथम भेद तिणि अवसर होय...

अपने अन्दर उठने वाले राग-द्वेष आदि विकारों को साधक द्रष्टाभाव से मात्र देखता है, उसमें जुड़ता नहीं। और जब वह इस प्रकार द्रष्टा बनता है तो उसके चित्त के अंधकार भरे कक्ष में ज्योति की पहली किरण पड़ती है।

विकारों को मात्र देखना है...

प्रभु का दर्शन तो आप सुबह-शाम करते ही हैं। उस समय यदि आपका चित्त स्थिर होगा तो प्रभु के निर्मल स्वरूप तथा प्रभु के मोहक गुणों को आप देख पाएंगे। किन्तु...

अपने भीतर उठने वाले विकारों को देख पाना तो कितनी अद्भुत बात है।

अपने चित्त में सतत विकार उठते रहते हैं, हमें मात्र इन विकारों को देखना है।

अब तक क्या हो रहा था!!

जब क्रोध उदय में आता था तो चित्त में विकार उठता और आप उसमें लिप्त हो जाते थे।

किन्तु अब क्रोध से जुड़ना नहीं, बल्कि उसे देखना है।

ऐसा कैसे होगा!!

क्रोध दृश्य है, आप द्रष्टा हैं। यदि यह दृष्टिबिन्दु स्थिर हो तो यह बात बन सकती है।

क्रोध दृश्य है, आप द्रष्टा हैं।

तो, क्रोध दृश्य है, आप उसे देखने वाले द्रष्टा हैं। अब देखिये, क्या दृश्य और द्रष्टा एक हो सकते हैं?

सामने स्थित टेबल को मैं देख रहा हूँ। टेबल दृश्य है, मैं द्रष्टा हूँ। तो दृश्य और द्रष्टा अलग हुए! मैं टेबल तो नहीं न?

उसी प्रकार भीतर का क्रोध दृश्य है, आप द्रष्टा। दोनों एकमेक नहीं हो सकते।

अतीत में हम क्रोध के कर्ता थे, अब से हमें इसका द्रष्टा बनकर रहना है।

दृश्य भिन्न, द्रष्टा भिन्न।

सत्ता में क्रोध निहित है, इसलिए यह उदय में अवश्य आएगा, किन्तु आपको उसमें लिप्त नहीं होना है, इस पर्याय को मात्र देखना है।

यदि अशांता का उदय हुआ, तो जागृत साधक उसमें दुःख अनुभव नहीं करेगा, क्योंकि उसमें लिप्त होते ही कर्मबंध होना प्रारम्भ हो जाएगा, 'अरे! मुझे पीड़ा हो रही है, सहन नहीं होता, मेरे साथ ऐसा किसने किया, बुरा हो उसका...!!' इत्यादि।

लिप्तता से कर्मबंध होगा, देखते रहेंगे तो निर्जरा होगी कि, 'मेरे कर्मोदय के कारण मुझे पीड़ा हो रही है, मुझे इसे समभाव से देखना है।'

'रहत विकार स्वरूप निहारी, ताकी संगत मनसा धारी; निज गुण अंश लहे जब कोय...' भीतर उठने वाले विकारों को देखा, मन देखने की क्रिया में व्यस्त है, इन क्षणों में साधक के पास द्रष्टाभाव होता है और वह सिर्फ देख रहा है।

पूर्व वर्णित 'अध्यात्मोपनिषद्' का यह उद्धरण याद आता है -

'द्रष्टु-दृगात्मता मुक्ति-दृश्यैकात्म्यं भवभ्रमः।'

यदि द्रष्टा दर्शन में खो गया, तो वह मोक्षमार्ग पर चल रहा है और यदि वह दृश्य के साथ चेतना का मिश्रण करके राग-द्वेष में आत्मा को जोड़े, तो यह उसका संसार है।

रूपस्थ ध्यान।

इस ध्यान की विशेषता यह है कि साधक की वर्तमान स्थिति से यह उसे उठाता है। निमित्त मिलते ही गुस्सा आना, स्वादिष्ट भोजन से आसक्ति, कोई प्रशंसा करे तो अहं उत्पन्न होना...

इन सब बातों से स्वयं को उठाओ, हटाओ। भीतर उठे विकारों को देखो, देखो... और मात्र देखो... गुस्सा, आसक्ति और अहंकार छू हो जाएँगे... कैसी आनन्दमयी यह साधना है!





आधार सूत्र : 9

तीर्थकर पदवी परधान, गुण अनंत को मानो स्थान;
गुण-विचार निज गुण जे लहे,
ध्यान पदस्थ सुगुरु इम कहे...९४

– स्वरोदयज्ञान (पू. चिदानन्दजी)

तीर्थकर पद श्रेष्ठ है, यह अनन्त गुणों का स्थान है।
जो साधक इनके गुणों का प्रतिबिम्ब अपने हृदय
में उतार सके, वह 'पदस्थ ध्यान' की धारा में है।



अहनिशि ध्यान अभ्यासथी, मनस्थिरता जो होय;
तो अनुभव लव आज फुन, पावे विरला कोय...५२

– स्वरोदयज्ञान (पू. चिदानन्दजी)

दिन-रात ध्यानाभ्यास करने से यदि मन की स्थिरता
प्राप्त हो तो आत्मानुभूति का आंशिक स्वाद आज
भी कोई विरला प्राप्त कर सकता है।

09 | पदस्थ ध्यान

अतीत की यात्रा में हम समवसरण में गए, कभी कुतूहल या जिज्ञासावश गए, तो कभी भक्ति-भाव से प्रेरित होकर। उन क्षणों में प्रभु के अप्रतिम रूप का नज़ारा हमने देखा, कैसा अद्भुत रूप... प्रशांतवाहिता से सराबोर। महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज की पंक्तियाँ इस रूप का वर्णन करते हुए कहती हैं,

‘कोटि देव मिल के कर न शके, एक अंगुष्ठ रूप प्रतिछंद;
ऐसो अद्भुत रूप तिहारो, वरसत मानुं अमृत को बुंद...’

करोड़ों देव सम्मिलित होकर भी प्रभु के अँगूठे के समकक्ष रूप नहीं बना सकते हैं। इस रूप को हम अनवरत निरखते गए, ऐसा रूप जो कभी न देखा, कितना भी देखो-मन न भरे ऐसा रूप।

‘लोचन शान्तसुधारस सुभगा, मुख मटकाळु प्रसन्न;
योगमुद्रानो लटको चटको, अतिशय तो अतिधन्न...’^(१)

प्रभु के नयन कैसे हैं! ‘लोचन शान्तसुधारस सुभगा...’ अमृत रस भरे नयन, जिन्हें देखते ही हमारी आँखों को ठंडक मिली।

महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने इसका विस्तार करते हुए कहा, ‘तेरे नयन की मेरे नयन में, जस कहे दिओ छबि अवतारी...’ हे प्रभु! आपकी आँखों में जो प्रशांतवाहिता है, उसका एक छोटा सा अंश मेरी आँखों में भी उतारने की कृपा कीजिए।

‘मुख मटकाळु प्रसन्न...’ प्रभु का मुख प्रसन्नता से ऐसा छलक रहा है कि मानो समस्त जगत् की सारी प्रसन्नता उनके मुख पर केन्द्रित हो गई हो।

‘योगमुद्रानो लटको चटको...’ प्रभु की योग मुद्रा कैसी है, यह इस दूसरे स्तवन से देखिए, ‘त्रिगड़े रतनसिंहासन बेसी, चिहुं

दिशि चामर ढळावे रे; अरिहंत पद प्रभुतानो भोगी, तो पण जोगी कहावे रे...’^(२)

समवसरण में विराजित प्रभु का बाह्य ऐश्वर्य अद्भुत है, उनके चारों ओर चामर ढुळ रहे हैं, देव-वाजिंत्र बज रहे हैं। किन्तु... इस बाह्य ऐश्वर्य से नितान्त अलिप्त, परम उदासीन भाव में परमात्मा विराजित हैं।

समवसरण की अपार सिद्धि हमारी ओर है, प्रभु की ओर है परम उदासीन भाव। इस परम उदासीन दशा को देखकर सब अवाक् और स्तब्ध रह जाते हैं।

स्तब्धता की यह क्षण फिर भक्ति की क्षण में परिवर्तित हो जाती है, ‘अरे! ये हैं मेरे प्रभुजी! कैसी अद्भुत उदासीनावस्था है इनकी! एक ओर बाह्य ऋद्धि तथा ऐश्वर्य भी अपरम्पार है तो दूसरी ओर इतनी गहरी उदासीनता।

बाह्य ऐश्वर्य कैसा!

कोड़िगमे उभा दरबारे, जय मंगल सुर बोले रे;
त्रण भुवननी ऋद्धि तुज आगे, दिसे इम तृण तोले रे...

करोड़ो देव जिनकी स्तुति कर रहे हैं, ऐसे प्रभु की ऋद्धि के सामने तीनों भुवन की सारी ऋद्धियाँ तिनके की भांति फीकी लगती हैं।

किन्तु, इस बाह्य ऋद्धि के समानांतर परम उदासीनता की आंतरिक ऋद्धि की तुलना किससे की जाए?

समवसरण में बैठे, हम प्रभु की उदासीन दशा को निरख रहे हैं।

यह उदासीन दशा देखकर एक क्षण ऐसा लगता है कि मानो उसका एक अंश हमारे भीतर प्रवेश कर रहा है। उस समय स्वाध्याय करते हुए पढ़ी ये पंक्तियाँ मनःपटल पर उभर आती हैं कि, प्रभु के जो गुण तुझे प्रकट रूप में दिखाई दे रहे हैं, वे सत्ता स्वरूप में तुम्हारे अन्दर पहले से ही हैं, किन्तु आवरित हैं, ढके हुए हैं।

फिर से दृष्टि प्रभु की परम उदासीन दशा पर...

तो, याद आई कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य की ये पंक्तियाँ, 'पन्नगे च सुरेन्द्रे च, कौशिके पादसंस्पृशि; निर्विशेषमनस्काय, श्रीवीरस्वामिने नमः॥' अर्थात् कौशिक नामक सर्प प्रभु को डंक मारता है और कौशिक नामक इन्द्र प्रभु के चरण में मस्तक झुकाता है। प्रभु को इन दोनों घटनाओं में लेश मात्र भी अंतर नहीं लगता। बाह्य संसार में यह सब चलता रहता है, प्रभु तो अपने ही भीतर प्रतिष्ठित हैं।

अब हमारा ध्यान प्रभु की आंतरिक ऋद्धि की ओर ही केन्द्रित होता है। अब प्रभु की परम उदासीनता हमें अच्छी लगने लगती है। मुझे भी यही दशा चाहिए। हे प्रभु! मुझे तुरन्त ही यह दशा प्रदान कीजिए, भले ही छोटा अंश हो, किन्तु अवश्य प्रदान कीजिए।

पूज्य देवचंद्रजी महाराज को आपने कैसी उदासीन दशा प्रदान की! उनके जीवन की एक घटना है : वे एक दिन उपाश्रय में प्रवचन दे रहे थे। उपाश्रय के पीछे एक झाड़ी थी। बीच प्रवचन में एक सांप झाड़ी में से निकला, और प्रवचन के पाट पर चढ़ गया। कदाचित् उसे भी पूज्यश्री का सम्मोहन खींच लाया था। वह पूज्यश्री के पैरों पर चढ़ गया। पूज्यश्री ने अविरत प्रवचन चालू रखा और फिर वह सांप पाट से उतर कर वापिस झाड़ी की ओर लौट गया। एक ओर उनके पैरों पर सांप के चढ़ने की घटना थी,

तो दूसरी ओर थी उनकी उदासीन दशा, घटना-निरपेक्ष दशा।

उनकी उस समय की मुख मुद्रा पर योगसार में वर्णित एक साधना सूत्र का जीवंत अनुवाद झलक रहा था : घटना-निरपेक्ष दशा से चित्त की उत्सुकता का अभाव और इससे प्राप्त होने वाली स्वस्थता योगीपुरुषों के पास ही होती है।^(३)

हे प्रभु! ऐसी उदासीन दशा की एक झलक हमें भी प्रदान करके कृतार्थ करें।

समवसरण के उन क्षणों में कभी-कभी ये विचार भी आता, तथापि प्रभु की उदासीनदशा को निरखना सतत होता ही रहा, भक्ति-भाव से आँखें नम होती ही गई, मात्र यही विचार आया कि, 'मेरे प्रभु तो ऐसे ही होंगे न! कैसे अद्भुत!'



समवसरण के इन क्षणों में भीगना, इसमें बह जाना ही पदस्थ ध्यान है। इसकी विभावना देते हुए पूज्य चिदानन्दजी कहते हैं -

तीर्थकर पदवी परधान, गुण अनंत को मानो स्थान;
गुण-विचार निज गुण जे लहे, ध्यान पदस्थ सुगुरु इम कहे...

समवसरण में विराजित प्रभु, अनन्त गुणों के स्वामी हैं। उनके गुणों का चिंतन करते-करते मेरे भीतर में भी इन्हीं गुणों के होने का आभास होता है; इन गुणों की अल्प अनुभूति ही पदस्थ ध्यान है।

'तीर्थकर पदवी परधान...' तीर्थकर प्रभु के दर्शन करते हुए मधुराष्टक का ध्रुव पद याद आता है, 'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।' माधुर्य के अधिपति की तो समस्त छटा मधुर ही होगी।



समवसरण में विराजित प्रभु, या देवछंदा में बैठे प्रभु, या स्वर्ण कमलों पर विचरते प्रभु... माधुर्य ही माधुर्य बिखरा दिखाई देता है। प्रभु के इन विविध रूपों का माधुर्य हमें जकड़ कर रखता है। किन्तु जब प्रभु के गुणों का आन्तर माधुर्य चखने को मिले, फिर तो -

यह पराकाष्ठा ही होगी।

वह परम उदासीनदशा का दर्शन, मुख पर झलकती प्रशान्तवाहिता का दर्शन, पूज्य देवचन्द्रजी महाराज इन क्षणों का जीवंत चित्रण करते हुए कहते हैं :

दीठो सुविधि जिणंद समाधिरसे भर्यो हो लाल,
भास्यो आत्मस्वरूप अनादिनो विसर्यो हो लाल;
सकल विभाव उपाधि थकी मन ओसर्यो हो लाल,
सत्तासाधन मार्ग भणी अे संचर्यो हो लाल।

ऐसा लगता है कि मानो पदस्थ ध्यान की व्याख्या इन पंक्तियों में पूर्णतः शब्दस्थ हुई। पूज्य-श्री कहते हैं, समाधि रस से सराबोर प्रभु के मुख तथा उनकी देहयष्टि को देखा और यह देखते ही आत्म-समाधि रस याद आया और यह याद आते ही असमाधि दशा, चित्त की अप्रसन्न दशा छू हो गई और समाधि रस प्राप्त करने की यात्रा प्रारम्भ हुई।

उदासीन दशा तथा समाधि दशा (गहरी प्रसन्नता की दशा) की भांति प्रभु के मुख पर स्थित परम आनन्द का भी दर्शन होता है, तथा इन क्षणों में प्रभु के प्यारे बोल कानों में मिश्री घोलते हैं कि, 'हे आत्मन्! तू भी आनन्दघन है, रति-अरति के बीच झूलना तेरा स्वभाव नहीं, आनन्दघनता ही तेरा स्वभाव है।'

प्रभु की इस आनन्दघनता का अल्प संस्करण हमारे भीतर प्रवेश करे...

यही है पदस्थ ध्यान...

कितना आनन्दमय है यह ध्यान...

प्रभु की आंतरिक ऋद्धि देखने की क्षणों से लेकर इन क्षणों को प्राप्त करने तक इस ध्यान का विस्तार है।

साधक की आँखें बंद हो, समवसरण का दृश्य वह अपने चित्त से देख रहा हो, प्रभु के एक-एक गुण का दर्शन उसे क्रमशः होता रहता है और उन गुणों का अल्प आस्वाद भी उसे मिलता है।

यह ध्यान तो आप अभी, इसी समय कर सकते हैं, है ना!





आधार सूत्र : 10

भेदज्ञान अन्तर्गत धारे,
स्व-पर परिणति भिन्न विचारे;
शक्ति विचारी शान्तता पावे,
ते पिण्डस्थ ध्यान कहवावे...९५

- स्वरोदयज्ञान (पू. विद्वानन्दजी)

भेदज्ञान, अर्थात् मैं देह आदि से भिन्न हूँ-
ऐसी अनुभूति को साधक अपने चित्त में सुदृढ़
करते हुए यह चिन्तन करता है कि 'स्व' की
परिणति-जो आनन्दमयी स्थिति है, वह भिन्न
है; तथा 'पर' की परिणति, जो रति-अरति
के बीच झूलती है, वह भिन्न है। तत्पश्चात्
आत्मशक्ति का विचार करते हुए, आत्मशक्ति
द्वारा स्व की ओर जाकर जो शान्ति एवं
आनन्द प्राप्त हो, वही पिण्डस्थ ध्यान है।

पिंड में, अर्थात् शरीर में स्थित ज्योतिर्मय का
दर्शन ही पिण्डस्थ ध्यान है।

ये प्यारे वचन देखिए :

धूँ के ढग में ज्योति जलत है, मिट्यो अंधारो अन्तर को;
इ अजवाले आतम सूझे, भेद जड्यो उन घर को...

धूल के ढेर सी क्षणभंगुर काया में चैतन्य तत्त्व की ज्योति झिलमिलाती है। इस प्रकाश में इस भ्रम का अंधकार दूर होता है कि 'देहादिक मैं हूँ'। जैसे ही आत्म-तत्त्व का प्रकाश मिला तो उस भीतरी घर का भेद भी खुल गया।

रविदासजी ने कहा कि, 'घर में घर दिखलाई दे, वो सद्गुरु हमार...' काया रूपी घर में स्थित ज्योतिर्मय घर का, तत्त्व का जो दर्शन करवाए वही सद्गुरु है।



सद्गुरु, साधक को इस आन्तरिक घर में कैसे ले जायेंगे? पूज्य स्थूलभद्रजी के जीवन की मजेदार घटना है। सद्गुरु आर्य संभूतिविजय महाराज के पास स्थूलभद्रजी स्वयं को दीक्षा देने हेतु विनती करते हैं।

गुरु ने दीक्षा प्रदान की और साथ ही भीतरी स्वरूप के साथ ऐसी प्रीत बांध दी कि उनकी बाह्य प्रीति छू हो गई।



सद्गुरु की इस कार्यप्रणाली की बात पूज्य यशोविजयजी महाराज ने मुनिसुव्रत प्रभु की स्तवना में की, 'जस कहे साहिबे मुगतिनुं, कर्तुं तिलक निज हाथे...'

आज्ञाचक्र पर सद्गुरु का अंगूठा लगते ही साधक का मुक्तिपुरी की ओर प्रयाण प्रारम्भ हो जाता है। प्रभु सद्गुरु द्वारा यह कार्य कर रहे हैं—यहाँ ऐसा संदर्भ लिया गया है।




इसी पृष्ठभूमि पर पिण्डस्थ ध्यान को देखते हैं। पिण्ड, अर्थात् शरीर में स्थित ज्योतिर्मय के अनुभव की अद्भुत साधना।

पूज्य चिदानन्दजी महाराज कहते हैं :

भेदज्ञान अन्तर्गत धारे, स्व-पर परिणति भिन्न विचारे;
शक्ति विचारी शान्तता पावे, ते पिण्डस्थ ध्यान कहवावे...९५

10 | पिण्डस्थ ध्यान





भेदज्ञान, अर्थात् मैं देह आदि से भिन्न हूँ – ऐसी अनुभूति को साधक अपने चित्त में सुदृढ़ करते हुए यह चिन्तन करता है कि 'स्व' की परिणति – जो आनन्दमयी स्थिति है, वह भिन्न है; तथा 'पर' की परिणति, जो रति-अरति के बीच झूलती है, वह भिन्न है। तत्पश्चात् आत्मशक्ति का विचार करते हुए, आत्मशक्ति द्वारा स्व की ओर जाकर जो शान्ति एवं आनन्द को प्राप्त करता है, वही पिण्डस्थ ध्यान है।



इस कड़ी के प्रत्येक चरण को देखिए, 'भेदज्ञान अन्तर्गत धारे...' भेदज्ञान चाहिए, किन्तु मात्र शब्दात्मक नहीं, बल्कि प्रतीत्यात्मक हो।

एक गुरु ने शिष्य से कहा, 'ऐसा सुना है कि तू आत्मतत्त्व की अच्छी बातें करता है, जरा मुझे भी अपनी कथा सुना!' शिष्य डेढ़ घंटे तक एक के बाद एक उद्धरण देकर यह चित्रण करता रहा कि इस शरीर से भिन्न ज्योतिर्मय तत्त्व कैसा है।

गुरु उसके चेहरे को देख रहे थे। जब शिष्य का बोलना बंद हुआ, तब गुरु बोले, 'रोटी के चित्र से पेट नहीं भरता है। तुम्हारे पास शब्द रूपी आत्मतत्त्व की रोटी का चित्र है, प्रतीत्यात्मक रूप में रोटी कहाँ है?'



'भेदज्ञान अन्तर्गत धारे...'

अवचेतन मस्तिष्क से 'मैं यह देह हूँ' यह मान्यता निकाल कर भेदज्ञान को रखना पड़ेगा। अन्यथा 'मैं देह से भिन्न हूँ,' यह मान्यता मात्र शाब्दिक बनकर रह जाएगी और 'मैं देह हूँ' यह मान्यता अपना घर जमाकर बैठी ही रहेगी।

इसके लिए क्या किया जाना चाहिए?

कड़ी का दूसरा चरण देखिए, 'स्व-पर परिणति भिन्न विचारे...' मैं देह हूँ – इस मान्यता या विकल्प रखने से क्या लाभ? देह बीमार होगा तो चिंता होगी कि अब मेरा क्या होगा? अत्यधिक पीड़ा अनुभव होगी। शरीर मृत्यु-शय्या पर होगा और मन अरति से घिर चुका होगा। मन में विषाद होगा, 'क्या मेरी मृत्यु होने वाली है? नहीं, मुझे अभी और जीवित रहना है।' देह 'पर' है, मैं इससे भिन्न हूँ, यदि यह विचार मन की गहराई तक न उतरा तो पीड़ा की परम्परा उत्पन्न होगी।

यहाँ साधक को दो भाग बनाने होंगे, मैं आनन्दधन हूँ – यह 'स्व' है, देह इत्यादि 'पर' है।

स्व की धारा में आनन्द ही आनन्द है और आप आनन्दधन हैं, समय की असर से नितांत परे हैं आप। इस प्रकार स्व की परिणति अत्यंत आनन्दमयी होगी।

‘पर’ में ‘में’ वाली बुद्धि चलेगी तो रति-अरति का चक्र चलता ही रहेगा।

किन्तु यदि ‘स्व’ वाला भाग मेरा और ‘पर’ वाला भाग पुद्गलों का और इन पुद्गलों से मेरा कोई लेना-देना नहीं – ऐसा विचार आए तो... ?

इस युग के एक श्रेष्ठ साधक ऋषभदासजी अपने घर से कार्यालय जाते समय प्रतिदिन एक संत को किसी वृक्ष के तले बैठा देखते और उनसे कुशलक्षेम पूछते।

एक बार कुछ दिन बाहर जाना हुआ, वापिस लौटे तो उसी रस्ते से कार्यालय की ओर निकले। संत को देखा तो उनका शरीर रक्तपित्त से ग्रस्त था। ऋषभदासजी ने पूछा, ‘सब कुशल है?’ तो संत ने उत्तर दिया, ‘अत्यंत मजे में।’ तो ऋषभदास ने पुनः पूछा, ‘आपके शरीर में तो बहुत रोग हो गया है।’ तो संत बोले, ‘यही तो मजा है, देहाध्यास छूट गया।’ संत ने अपने प्रेम भरे वचन कहने जारी रखे, ‘में कहता था कि शरीर नश्वर है, रोगों का घर है – फिर भी शरीर के प्रति थोड़ा ममत्व होता ही था। किन्तु प्रभुकृपा से शरीर के अन्दर का रक्त, मवाद आदि बाहर आ गया, अब शरीर के प्रति जो राग था, उसका नाश हुआ। कितना मजा है।’

संत ने ‘पर’ की परिणति से ‘स्व’ की परिणति को भिन्न कर दिया।

अब, तीसरा चरण, ‘शक्ति विचारी शान्तता पावे...’ ‘पर’ की परिणति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मुझे तो मात्र ‘स्व’ की धारा में ही बहना है – ऐसा लक्ष्य रखने वाले साधक को आत्मशक्ति का अनुभव होता है और इस आत्मशक्ति के द्वारा वह ‘स्व’ की गहराई में जाकर परम आनन्द की प्राप्ति करता है।

स्व की दुनिया में इन तीन चरणों के द्वारा साधक गहराई में गोते लगाता है : अन्तर्मुखी दशा, अन्तःप्रवेश, तथा अन्तर्लीन दशा।

अन्तर्मुखी दशा।

यदि ‘पर’ अपना लगे तो यह बाह्यमुखी दशा है। ‘स्व’ की दुनिया अपनी लगे वह अन्तर्मुखी दशा है।

महापुरुषों के दर्शन, उनके साथ बिताए हुए कुछ क्षण तथा उनका आंतरिक वैभव देखकर मन उस ओर जाने को आतुर होता है। अन्तर्मुखी दशा में साधक स्वभाव के प्रति रुचि दर्शाता है।

अन्तःप्रवेश।

जब सद्गुरु ‘करेमि भंते!’ सूत्र प्रदान करते हैं तब साधक समभाव की दुनिया में प्रवेश करता है।

अन्तर्लीन दशा।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ‘पंचविंशतिका’ ग्रन्थ में अन्तर्लीन दशा का सटीक वर्णन करते हैं। वहाँ इस दशा को जीवन्मुक्त दशा के रूप में व्याख्यायित किया गया है। उन्होंने अन्तर्लीन दशा की विभावना कितनी सुंदरतापूर्वक बताई है :

जाग्रत्यात्मनि ते नित्यं, बहिर्भावेषु शेरते।

उदासते परद्रव्ये, लीयन्ते स्वगुणामृते॥

आत्मभाव में सतत जागृति, बहिर्भाव में सुषुप्ति, परद्रव्य में उदासीनता तथा स्वगुणों की धारा में बह जाना ही अन्तर्लीन दशा है।

‘मेरा स्वरूप कर्म तथा राग-द्वेष से अलिप्त है। मैं अखंड उपयोग की धारा में प्रवहमान अस्तित्व हूँ।’ इस प्रकार आत्मभाव में सतत जागृति साधक को रखनी होती है।

परमतारक श्री कुन्थुनाथ प्रभु के स्तवन में पूज्य देवचन्द्रजी महाराज कहते हैं :

अस्ति स्वभाव जे आपणो रे, रुचि वैराग्य समेत;
प्रभु सम्मुख वंदन करी रे, मांगीश आतम हेत...

अस्तित्व, Being ही मेरा स्वभाव है। प्रभु से मुझे यही अस्तित्व मांगना है। इस अस्तित्व की प्राप्ति के दो मार्ग हैं, रुचि तथा वैराग्य। इनकी याचना भी मुझे प्रभु से करनी है।

रुचि, अर्थात् स्वभाव दशा प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा। वैराग्य अर्थात् 'पर' के प्रति अनास्था। ये दोनों कारण है तथा स्वभाव दशा प्राप्त करना-कार्य है, यह हुआ प्रथम चरण - 'जाग्रत्यात्मनि ते नित्यम्...'

दूसरा चरण है परभाव से मुक्ति, 'बहिर्भावेषु शेरते।' अर्थात् बाह्य भाव में सुषुप्ति। शरीर या भौतिक पदार्थों से सम्बन्धित कोई बात साधक को अच्छी नहीं लगती, वह तुरन्त ही कहेगा, 'यह बात मत करो, स्वभाव दशा में स्थित किसी महापुरुष की बात करते हैं।'

तीसरा चरण, 'उदासते परद्रव्ये', बहिर्भाव में तो सुषुप्ति रख ली, परभाव नहीं है, किन्तु परद्रव्य का क्या करें? शरीर को आहारादि, या वस्त्रादि पुद्गल तो चाहिए न! तो परद्रव्य अनिवार्य रूप से उपयोग करने ही होंगे। किन्तु यहाँ भी उदासीन भाव रखें। इन परद्रव्यों का उपयोग करते हुए पसंद-नापसंद का भाव न उठे-ऐसी सावधानी साधक के पास होती है।

चौथा चरण, 'लीयन्ते स्वगुणामृते...' अपने स्वगुणों की धारा में लीन हो जाना। यह हुई अन्तर्लीन दशा।

अन्तर्मुख दशा से अन्तर्लीन दशा तक की यह धारा साधक को 'स्व' की आनन्दमयी दुनिया में प्रतिष्ठित करती है।

'शक्ति विचारी शान्तता पावे...' स्वयं अन्तर्लीन दशा प्राप्त कर सकता है, स्वयं 'स्व' की दुनिया में प्रतिष्ठित हो सकता है, इस बात का विचार साधक के मन को तृप्त कर देता है। 'ते पिंडस्थ ध्यान कहवावे...' इस प्रकार पिंड में, अर्थात् शरीर में स्थित आत्मतत्त्व रूप ज्योति का दर्शन पिंडस्थ ध्यान है।



“
मैं अखंड
उपयोग की
धारा में
प्रवहमान
अस्तित्व हूँ।
”



‘पर’ में
‘मैं’ वाली
बुद्धि चलेगी
तो
रति,
अरति का
चक्र चलता
ही रहेगा।





आधार सूत्र : 11

रूप रेख जामें नवि कोई, अष्टगुणा करी शिवपद सोई;
ताकुं ध्यावत तिहां समावे, रूपातीत ध्यान सो पावे...९६

– स्वरोदयज्ञान (पू. चिदानन्दजी)

जिसमें रूप की लेश मात्र भी अंश नहीं, आठ गुणों
(अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त
सुख, अक्षय स्थिति, अरूपीपन, अगुरुलघुता तथा
अव्याबाध स्थिति) से युक्त दशा जो मोक्ष स्वरूप है; उस
स्वरूप का ध्यान करने वाला ध्याता मोक्षसुख की झाँकी
प्राप्त करने में सफल होता है, यही रूपातीत ध्यान है।



अेह ध्याने सुख उपनुं जेह, गूंगे गोल गळ्या परि तेह।

– पंच परमेष्ठि मंत्रराज, ध्यानमाला १/५

इस ध्यान से उत्पन्न सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता।
जैसे गूंगे व्यक्ति को गुड़ खिलाकर पूछें कि कैसा स्वाद है?
तो वह कैसे बताएगा?

कबीरजी कहते हैं, 'गूंगे केरी सरकरा...' गूंगे व्यक्ति ने
शक्कर खाई, अब वह इसका स्वाद कैसे बताए?

11 | रूपातीत ध्यान

रूपातीत ध्यान, अनालंबन ध्यान की लघु-आवृत्ति है। आलंबन ध्यान में प्रभु के सुन्दर रूप या प्रभु के प्यारे शब्दों के आधार पर साधक स्वगुणानुभूति की यात्रा करता है।

आप प्रभु की मूरत के सामने बैठे हैं, प्रभु के मुख की प्रशांतवाहिता आपके भीतर भी वैसी ही प्रशांतवाहिता का छोटा सा झरना प्रवाहित करती है।

प्रभु के मुख पर कैसी प्रशांतवाहिता है, यह पूज्य मानतुंगसूरि जी बताते हैं। 'भक्तामर' स्तोत्र में वे कहते हैं, 'हे प्रभु! शान्तरस के जिन परमाणुओं से आपकी देहयष्टि का निर्माण हुआ है, मुझे लगता है कि इस सृष्टि में शान्तरस के कुल परमाणु उतने ही हैं। क्योंकि ऐसा प्रशांत स्वरूप अन्य कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता'।^(१)

प्रभु के प्यारे बोल आपके कर्णपटल पर गूंजते हैं, 'अशान्त दशा तुम्हारा स्वभाव नहीं है, विकल्पों के कारण ही तुम अशान्त दशा में जा रहे हो। प्रशांतवाहिता में निवास करना ही तुम्हारा स्वभाव है।'।

प्रभुरूप का दर्शन, प्रभु वचनों का श्रवण साधक को उनके गुणों की दुनिया में प्रवेश देता है। यह सब आलंबन ध्यान है, जिसमें प्रभुरूप या प्रभु वचन के आलंबन से साधक को गुणानुभूति होती है।

अनालंबन ध्यान, अर्थात् रूपातीत ध्यान।

बार-बार आलंबन लेते ही रहने से आलम्बन अभ्यस्त हो जाता है। और साधक स्वगुणानुभूति की धारा में बह उठता है -

यही अनालंबन है। यह अनालंबन क्षपकश्रेणि के समय होता है, किन्तु इसकी लघु-आवृत्ति का अनुभव साधक अवश्य प्राप्त कर सकता है।

योगविशिका टीका में पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं, परमात्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय जैसे ही निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय अपने भी है, ऐसा विभावित करना अनालंबन ध्यान का अंश है तथा मोह का नाशक है।^(२) व्यवहार नय द्वारा सिद्ध, कर्मों से लिप्त, राग-द्वेष में लिपटे आत्मस्वरूप के बदले निश्चय नय द्वारा सिद्ध, साहजिक आत्मगुण, जैसे आनन्द, क्षमा आदि की विभावना होने पर अनालंबन ध्यान प्राप्त होता है।^(३)

इस पृष्ठभूमि पर रूपातीत ध्यान की कड़ी देखते हैं :
रूप रेख जामें नवि कोई, अष्टगुणा करी शिवपद सोई;
ताकुं ध्यावत तिहां समावे, रूपातीत ध्यान सो पावे...

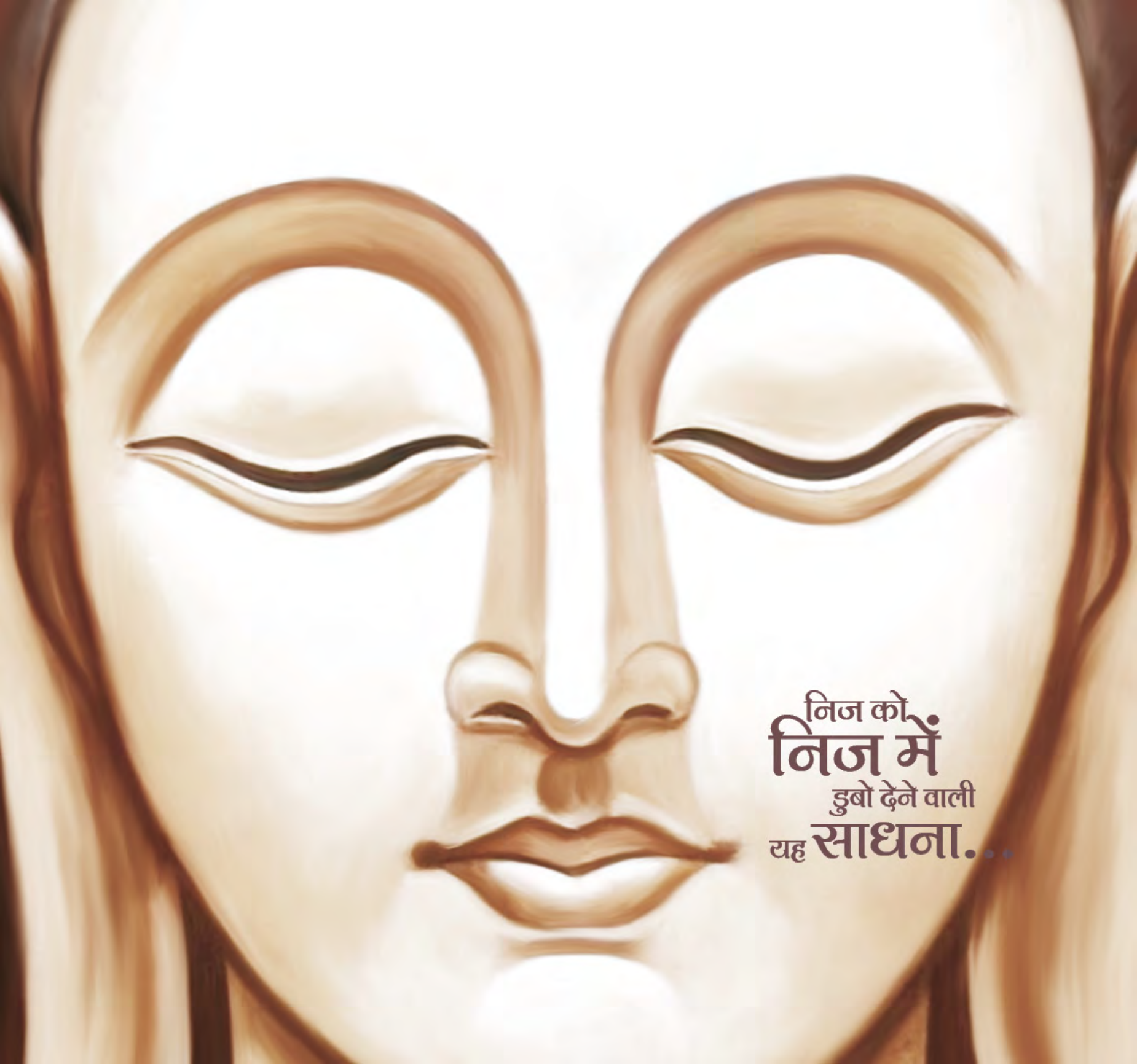
जिसमें रूप की लेश मात्र भी अंशरेखा नहीं, आठ गुणों (अनन्त ज्ञान आदि) से युक्त दशा जो मोक्ष स्वरूप है; उस स्वरूप का ध्यान करने वाला ध्याता मोक्षसुख की झाँकी प्राप्त करने में सफल होता है, यही रूपातीत ध्यान है।

यहाँ गुणों का ध्यान तथा गुणों की अनुभूति होती है। स्वगुणों की धारा में बहना है यहाँ... आनन्द ही आनन्द...!

१. यैः शान्तरागवृत्तिभिः परमाणुभिस्त्वं, निर्मापितस्त्रिभुवनैक-ललामभूत! तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां, यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति॥ - भक्तामर स्तोत्र

२. परमात्मतुल्यतयाऽऽत्मज्ञानस्यैव निरालम्बनध्यानांशत्वात्, तस्यैव च मोहनाशकत्वात्॥ - योगविशिका टीका, १९

३. संसार्यात्मनोऽपि च व्यवहारनयसिद्धमौपाधिकं रूपमाच्छाद्य, शुद्धनिश्चयनयपरिकल्पितसहजात्मगुण-विभावने निरालम्बनध्यानं दुरपह्वमेव॥ - एजन १९



निज को
निज में
डुबो देने वाली
यह साधना...



साधना द्वारा स्वानुभूति



आधार सूत्र : 12

अवधू! अनुभव कलिका जागी,
मति मेरी आत्म सुमिरन लागी...

अनुभव रस में रोग न शोका, लोकवाद सब मेटा;
केवल अचल अनादि अबाधित, शिवशंकर का भेटा।
वर्षाबुंद समुंद समानी, खबर न पावै कोई;
आनंदघन व्हें ज्योति समावे, अलख कहावे सोई।

- पू. आनन्दघनजी महाराज

अवधू! अनुभव का अंश, नन्ही कली भीतर
खिली है और मेरा मन आत्मस्मरण में ही लग
गया है। अनुभव रस में न रोग है, न शोक और न
ही मिथ्या लोक-व्यवहार। यहाँ तो मात्र अचल,
अनादि तथा अबाधित परमतत्त्व का मिलन
है। जैसे बारिश की बूंद जब समुद्र में गिरती
है तो उसका कुछ पता नहीं चलता, वैसे ही
परमात्मज्योति में अलक्ष्य आत्मा समाहित होती है।

12 | 'ध्यानविचार' ग्रन्थ में वर्णित 24 प्रकार के ध्यान

धर्मध्यानादि ध्यान, रूपस्थादि चार ध्यान हमने देखे। 'ध्यानविचार' अति प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें 24 प्रकार के ध्यान का वर्णन है। मूल ध्यान 12 प्रकार के हैं, उनके नाम के आगे 'परम' लगाते हुए अन्य 12 प्रकार और हुए।

इन भेदों का वर्णन करने वाली गाथा इस प्रकार है :

मुन्न-कल-जोइ-बिन्दु-नादो-तारा-लओ-लवो-मता।
पय-सिद्धि परमजुया, झाणाइं हुंति चउवीसं।

'ध्यानविचार' ग्रन्थ पर अध्यात्मयोगी पूज्यपाद आचार्य भगवंत श्री कलापूर्णसूरि महाराज की विशद विवेचना भी उपलब्ध है।

आईए, इन भेदों को क्रमशः देखते हैं :

१) ध्यान : आज्ञाविचय आदि ध्यान ही धर्मध्यान है।

२) परम ध्यान : धर्मध्यान के लम्बे अभ्यास के पश्चात् जब साधक में क्षमा, मृदुता, ऋजुता आदि गुण, तथा मैत्रीभाव में वृद्धि हो, तब परम ध्यान रूपी शुक्लध्यान का प्रथम सोपान 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' प्राप्त होता है।



यह शुक्लध्यान मुख्यतया क्षपक श्रेणी प्राप्त कर चुकी आत्माओं में ही सम्भव है। गौणरूप में रूपातीत ध्यान करते समय शुक्लध्यान का अंश होता है।

'ध्यानविचार' ग्रन्थ में पूज्य आचार्य भगवंत श्री कलापूर्णसूरि महाराज कहते हैं कि, 'पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज द्वारा स्वरचित 'द्रव्य-गुण-पर्याय नो रास' में जो वर्णन किया गया है वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा मार्मिक है। उसके आधार पर वर्तमान काल में भी शुक्लध्यान की आंशिक अनुभूति हो सकती है - ऐसा महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलता है।

"पूर्वधर महर्षि आत्मा के द्रव्य, गुण तथा पर्याय रूप भेद को नय के माध्यम से चिन्तन-विचार करते हुए शुक्लध्यान का प्रथम सोपान 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' प्राप्त करते थे तथा द्रव्य, गुण तथा पर्याय से अभेद आत्मा का चिन्तन करते हुए शुक्लध्यान का दूसरा भेद 'एकत्व वितर्क अविचार' प्राप्त करते थे। किन्तु जो पूर्वधर नहीं है, ऐसे मुनि भी शुद्ध द्रव्य, गुण तथा पर्याय की भावना से सिद्ध भगवन्तों के साथ समापत्ति ध्यान द्वारा तादात्म्य स्थापित करके शुक्लध्यान रूपी फल प्राप्त कर सकते हैं।" (१) (२)

१. ध्यानविचार, पृ. ३५

२. द्रव्य गुण पर्याय के रास की कड़ी इस प्रकार है :- द्रव्यादिक चिन्ताई सार, शुक्लध्यान पण लहिइं पार;

ते माटे ओहिज आदरो, सदगुरु विण मत भूला फरो... १/६

इसका अर्थ : द्रव्यादिक की चिन्तासे शुक्लध्यान को पाया जाता है। आत्मद्रव्य-गुण-पर्याय भेद चिन्ताई शुक्लध्यान का प्रथम भेद होता है और उसकी अभेद चिन्ताई द्वितीय पाद होता है तथा शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय की भावनाई 'सिद्ध समापत्ति' होता है, वह तो शुक्लध्यान का फल है।

प्रवचनसारेऽप्युक्तम् - जो जाणदि अरहंतं, दक्कत्त-गुणत्त-पज्जवत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं।।१/८०।।

‘ध्यानशतक’ ग्रन्थ ने शुक्लध्यान के अग्रिम दो भेद के अधिकारी रूप में पूर्वधर अप्रमत्त मुनि, उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी में स्थित मुनियों को लिखा है।

धर्मध्यान के अधिकारी के रूप में अप्रमत्त मुनि, उपशमक निर्ग्रन्थ तथा क्षपक निर्ग्रन्थ को बताया गया है। टीकाकार पूज्य हरिभद्राचार्य ने “च” शब्द से अन्य अप्रमादियों को भी धर्मध्यान का ध्याता कहा है।^(३)

‘गुणस्थानकक्रमारोह’ ग्रन्थ में पांचवें गुणस्थानक पर मध्यम धर्मध्यान को गौण कहा है, देशविरति के परिणाम की विशुद्धि से उसमें विकास होता है। छठे गुणस्थानक पर मध्यम धर्मध्यान गौण तथा निरालंबन ध्यान असम्भव कहा गया है। अप्रमत्त अवस्था में उत्कृष्ट धर्मध्यान तथा निरालंबन ध्यान होता है।^(४)

योगबिन्दु ग्रन्थ में पूज्य हरिभद्राचार्यजी ने अध्यात्म तथा भावनायोग के अधिकारी के रूप में व्यवहार से अपुनर्बन्धक तथा अविरत सम्यग्दृष्टि को कहा है। निश्चय से ये दोनों योग चारित्र के धारक को कहे गए हैं। ऐसा कहा गया है कि ध्यान आदि योग तो व्यवहार तथा निश्चय – इन दोनों अपेक्षाओं से चारित्री को ही तात्त्विक होते हैं।^(५)



३) शून्य ध्यान : निर्विकल्प अवस्था ही शून्य ध्यान है। यद्यपि इस स्थिति में मोटे तौर पर विकल्प नष्ट हो चुके होते हैं, किन्तु सम्पूर्ण रूप से नहीं।



४) परमशून्य ध्यान : उपर्युक्त निर्विकल्प अवस्था की पराकाष्ठा इस स्थिति में प्राप्त होती है। इस ध्यान की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार होती है : प्रथम, चित्त को त्रिभुवन के विषय में फैलाकर, व्याप्त बनाकर फिर एक विषय (आत्मद्रव्य या परमाणु) पर संकुचित करते हुए अंत में वहाँ से भी चित्त को हटा देना।

ध्यानशतक ग्रन्थ में शुक्लध्यान की प्ररूपणा करते हुए यह क्रम बताया है : ७१ वीं गाथा में कहा है कि, जैसे सर्व शरीरगत विष को, मन्त्र शक्ति के द्वारा डंक के स्थान पर लाकर फिर वहाँ से दूर किया जाता है, इसी प्रकार त्रिभुवन में व्याप्त मन को एक पदार्थ पर स्थिर करके, अंत में वहाँ से भी हटाया जाता है।^(६)



५) कला ध्यान : कला का अर्थ है – कुंडलिनी। इसका उत्थान होने से जो समाधि प्राप्त हो वह कला ध्यान है।

कुंडलिनी के स्वरूप को अनेक जैनाचार्यों ने शब्दों में पिरोया है। आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरिजी ने शारदास्तवाष्टक में इसका उल्लेख किया है।^(७)

पूज्य चिदानन्दजी महाराज ‘स्वरोदय ज्ञान’ ग्रन्थ में लिखते हैं : नाभि पास है कुंडलि नाड़ी, वंकनाल है तास पिछाड़ी; दशम द्वार का मारग सोई, उलट वाट पावे नहीं कोई...७४

नाभि के पास कुंडलिनी नाड़ी है, उसके पीछे वंकनाल है। दशम द्वार (सहस्रार) में प्रवेश करने का यही मार्ग है। वंकनाल के अतिरिक्त सहस्रार में प्रवेश करने का कोई मार्ग नहीं।

३. च शब्दाद् अन्ये वाऽप्रमादिनः। – ध्यानशतक ६३ टीका

४. षट्कर्म-प्रतिमा-ऽणुवतपालनेन प्रादुर्भूतं मध्यमधर्मध्यानं पञ्चम-गुणस्थानके गौणत्वेन, तथा देशविरतिपरिणामविशुद्ध्या तद् अधिकाधिकं भवति... षष्ठगुणस्थानके प्रमादसत्त्वाद् मध्यमधर्मध्यानस्य गौणता निरालम्बनध्यानस्या-सम्भवश्च... तथा अप्रमत्तावस्थायां तु उत्कृष्टधर्मध्यान-निरालम्बनध्याने भवतः॥ – इति गुणस्थानक्रमारोहे

५. अध्यात्मभावनायोगौ व्यवहारे अपुनर्बन्धकाविरतसम्यग्दृष्टीन् तथा निश्चयेन तौ चारित्रिण एव भवतः, ध्यानादियोगास्तु उभयापेक्षया चारित्रिण एव उत्तरोत्तरशुद्धिमपेक्षया तात्त्विका एव भवन्ति ॥ – योगबिन्दुटीकायाम् समुच्चयार्थः।

६. जह सत्त्वसरीरगयं मंतेण विसं निरुंभए डंके। तत्तो पुणोऽवणिज्झइ, पहाणयरमंतजोएणं॥७६॥

तह तिहुयणविसयं मणोविसं मंतजोगबलजुत्तो। परमाणुमि निरुंभइ अवणेइ तओवि जिणवेज्जो॥७७॥

वंकनाल एक विशेष नाड़ी है, जो मूलाधार से निकलकर नाभि के बाईं ओर से ऊपर जाते हुए हृदय तथा वक्षःस्थल को स्पर्श करते हुए आज्ञाचक्र में रुद्र ग्रन्थि से मिलती है। उसमें से निकलकर आगे बढ़ते हुए क्रमशः ब्रह्मरंध्र में आती है। फिर यह मस्तक के पीछे लटकती है, और फिर ऊपर जाती है। यहाँ पर यह नाड़ी अर्ध-चन्द्राकार दिखाई देती है, इसलिए इस स्थान पर इसे वंकनाल कहते हैं।^(८)



६) परमकला ध्यान : कला ध्यान के निरन्तर अभ्यास से ध्यान सहज होने लगे, यह परमकला ध्यान है। जिस प्रकार चौदह पूर्वधर महर्षि को महाप्राण ध्यान में सहज रूप में कला, कुंडलिनी का जागरण बिना किसी प्रयास के होने लगता है, वैसा ही इस परमकला ध्यान में होता है।

कला प्राणशक्ति रूप है, परमकला महाप्राणशक्ति रूप है। चौदह पूर्वधर महर्षि, महायोगी श्री भद्रबाहु स्वामी ने महाप्राण ध्यान की सिद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने नेपाल देश स्थिरता करते हुए बारह वर्ष की दीर्घ साधना के अंत में यह ध्यानसिद्धि प्राप्त की थी।



७) ज्योति ध्यान : ध्यान के माध्यम से उत्पन्न होने वाली दिव्यज्योति का अनुभव ही ज्योति ध्यान है। भगवती सूत्र आदि में कहा है कि, आत्ममग्न मुनि को बारह महीने के दीक्षा पर्याय होने पर अनुत्तर देव के सुख को पीछे छोड़

दे - ऐसा सुख प्राप्त होता है। पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने 'परमज्योतिः पंचविंशतिका' में इस आत्मिक सुख की अनुभूति को ही ध्यानजनित दिव्यज्योति का स्वरूप कहा है।^(९)



८) परमज्योति ध्यान : ज्योतिध्यान में उत्पन्न ध्यानजन्य ज्योति जब अधिक प्रज्वलित हो तो वह परमज्योति ध्यान है।

योगशास्त्र के आठवें प्रकाश में मंत्रराज 'अर्ह' की ध्यान प्रक्रियाएँ बताते हुए कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज ने कहा है कि, 'उस अनाहत को क्रमशः बाल के अग्रभाग जितना सूक्ष्म है - यह चिन्तन करें, फिर कुछ देर यह चिन्तन करें कि सम्पूर्ण जगत अव्यक्त, निराकार तथा ज्योतिर्मय है। तत्पश्चात् मन को उस लक्ष्य से धीरे से हटाते हुए अलक्ष्य (आत्मा) में स्थिर करने से अक्षय तथा अतीन्द्रिय आंतरिक ज्योति प्रकट होती है।' ^(१०)



९) बिन्दुध्यान : जिस विशिष्ट परिणाम के फलस्वरूप आत्मा से चिपके कर्मों का क्षय हो, ऐसे परिणाम (अध्यवसाय) को बिन्दुध्यान कहते हैं। इस बिन्दुध्यान तक पहुँचने हेतु 'अर्ह' इत्यादि पद पर स्थित बिन्दु का गुरुगम द्वारा प्राप्त उच्चारण सहायक बनता है।

'अरिहाण शुत्तं' नामक स्तोत्र में कहा गया है कि नमस्कार महामंत्र के प्रथम पंच-परमेष्ठि पदों के सोलह अक्षरों (या उनमें से

७. नाभिकन्दसमुद्गता लयवती या ब्रह्मरन्ध्रान्तरे, शक्तिः कुण्डलिनीति नाम विदिता काऽपि स्तुता योगिभिः।

प्रोन्मीलनिरुपाधिबन्धुरपरा-नन्दामृतास्वाविणी, सूते काव्यफलोत्करान् कविवरैर्नीता स्मृतेर्गौचरम्॥ - आ. श्री मुनिसुन्दरसूरि कृत शारदास्तवाहक

वह अनिर्वचनीय प्रभाववाली कुंडलिनी शक्ति योगियों को सुविदित है और उनके द्वारा यह स्तुत्य है। वह नाभिकंद से सम्यग् तरीके से उठकर ब्रह्मरन्ध्र में लीन होती है। वह कुंडलिनी शक्ति सतत विकस्वर, उपाधिरहित और परमौत्कृष्ट आनंद रूप अमृत को झरने वाली है।

८. भारतीय संस्कृति और साधना. भा-२, पृ. ४४-४५, - महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज

९. श्रामण्ये वर्षपर्यायात्, प्राप्ते परमशुक्रताम्। सर्वार्थसिद्धदेवैभ्योऽप्यधिकं ज्योतिरुल्लसेत्॥ - १३, परमज्योतिः पंचविंशतिका

१०. तदेव च क्रमात् सूक्ष्मं, ध्यायेद् वालाग्रसन्निभम्। क्षणमव्यक्तमीक्षेत, जगज्ज्योतिर्मयं ततः॥२६॥

प्रच्याव्यमानसंलक्ष्यादलक्ष्ये दधतः स्थिरम्। ज्योतिरक्षयमत्यक्षमन्तरुन्मीलति क्रमात्॥२७॥ - योगशास्त्र, प्र. ८

कोई भी अक्षर) का बिन्दु सहित (अँ रँ हँ तँ - सिँ दँ - आँ यँ रँ यँ - उँ वँ ज़ाँ यँ - साँ हँ) ध्यान करने से साधक के लाखों जन्म-मरण टल जाते हैं।^(११)

बिन्दु के लिए ऐसा कहा है कि यह अर्ध-मात्रा है। इसे मात्रा से अमात्रा, व्यक्त से अव्यक्त की ओर जाया जा सकता है।



१०) परम बिन्दुध्यान : कुल ११ में से ९ गुणश्रेणियाँ प्राप्त करना परम बिन्दुध्यान है। ये ९ गुणश्रेणियाँ इस प्रकार हैं - सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, अनंतानुबंधी की विसंयोजना, दर्शन-सप्तक का क्षय, उपशामक अवस्था, उपशान्त मोह अवस्था, मोहक्षपक अवस्था, क्षीण मोहावस्था।

इन गुणश्रेणियों के समय विपुल कर्म निर्जरा होती है, अतः इस स्थिति को परम बिन्दुध्यान कहा है।



११) नाद ध्यान : अपने शरीर में उत्पन्न ध्वनि, संगीत के वाजिंत्र की भांति स्वतः सुनाई दे, वह नाद है। अनाहत नाद का स्वरूप 'योगप्रदीप' में कुछ इस प्रकार बताया है :

जैसे घंटानाद धीरे-धीरे शान्त होते हुए मधुर बनता है, ठीक वैसे ही अनाहत नाद भी क्रमशः शान्त होते हुए अंततः अत्यंत मधुर बनकर आत्मा को अमृतरस का आस्वादन करवाता है।^(१२)

शब्द-ध्वनि रहित, बिना विकल्प के, समभाव में स्थिर चित्त जब सहज अवस्था प्राप्त करता है तब अनाहत नाद प्रारम्भ होता है।

नाद की ध्वनि स्थगित होते ही सहज समाधि दशा प्राप्त होती है।

'वैखरी' अवस्था नाद की स्थूल अवस्था है तथा 'परा' में परम अव्यक्त वाणी होती है।

वैखरी में मंत्रात्मक शब्द तथा उसके अर्थ के बीच परस्पर भेद होता है। मध्यमा में शब्द तथा अर्थ के बीच भेदाभेद होता है - यानी थोड़ा अर्थ पता चलता है। 'पश्यन्ती' में शब्द तथा अर्थ का भेद समाप्त हो जाता है - यही मंत्र साक्षात्कार है। अग्निबीज के जाप से जलन उत्पन्न होती है तथा 'जिअभयाणं' के जाप से भय में भी सुरक्षा मिलती है। 'परा' में समस्त विकल्पों का उपशम होता है, अतः यहाँ चैतन्यानुभूति होती है।

१२) परम नादध्यान : इसी नाद की तीव्र अनुभूति परम नादध्यान है।



१३) तारा ध्यान : कायोत्सर्ग में स्थित साधक की निश्चल दृष्टि को तारा कहेंगे, इस निश्चल दृष्टिपूर्वक किए हुए ध्यान को तारा ध्यान कहेंगे।



१४) परम तारा ध्यान : मुनि की बारहवीं प्रतिमा जैसी अनिमेष दृष्टि परम तारा है, ऐसी अनिमेष दृष्टि से ध्यान करना परम ताराध्यान है। बारहवीं प्रतिमा की स्थिति में बारह घंटे तक मात्र एक ही पुद्गल (पत्थर, ईंट आदि) पर अनिमेष दृष्टि से ध्यान लगाने की क्षमता प्राप्त होती है।



१५) लय ध्यान : अरिहंत प्रभु, सिद्ध प्रभु, साधु भगवंत तथा प्रभु द्वारा प्ररूपित धर्म की शरण में जाना। सम्पूर्ण चित्त इन्हीं चार के ध्यान में डूब जाये, यही लय ध्यान है।

११. विज्रुत्व पञ्चलंति, सत्वेसु वि अक्खरेसु मत्ताओ। पंचनमुक्कारपए इक्किक्के उवरिमा जाव।।२५।।

ससिधवलसलिलनिम्मल आयासरहं व वण्णिंयं बिंदुं। जोगणसयप्पमाणं, जालासयसहस्सदिप्पंतं ।।२६।।

सोलससु अक्खरेसुं, इक्किक्कं अक्खरं जगुज्जोयं। भवसयसहस्समहणो, जम्मि ठिओ पंचनवकारो।।२७।। - अरिहाण धुत्तं।

१२. घंटानादो यथा प्रान्ते, प्रशाम्यन्मधुरो भवेत्। अनाहतोऽपि नादोऽथ, तथा शान्तो विभाव्यताम्।। - योगप्रदीप, ११७



१६) परमलय ध्यान : आत्मा को आत्मस्वरूप में डूबा हुआ अनुभव करना परमलय ध्यान है। लय तथा परमलय ध्यान को समापत्ति समाधि रूप माना गया है। समापत्ति के दो रूप हैं, तात्स्थ्य तथा तदंजनता। तात्स्थ्य अर्थात् 'मयि तद्रूपता', अर्थात् मुझमें वही परमात्मरूपता है। यह तात्स्थ्य ध्यान, लय ध्यान है। तदंजनता अर्थात् 'स एव अहम्' वह परमात्मा, मैं ही हूँ। स्वयं को परमात्मरूप अनुभव करना परमलय ध्यान है।



१७) लव ध्यान : शुभध्यान रूपी अनुष्ठान करके कर्म-क्षय करना लव ध्यान है। (लू धातु से लव शब्द बना, जिसका अर्थ है काटना या क्षय करना)



१८) परमलव ध्यान : उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ होकर कर्मों का तीव्र उपशांत या क्षय करना ही परमलव ध्यान है।



१९) मात्रा ध्यान : समवसरण में सिंहासन पर विराजित होकर देशना देते हुए स्वयं को देखना ही मात्रा ध्यान है।



२०) परममात्रा ध्यान : चौबीस चक्रों से स्वयं को घिरा हुआ देखना परममात्रा ध्यान है। शुभ अक्षरों आदि के २४ चक्र हैं। इन चक्रों से स्वयं को घिरा देखने के पीछे यह उद्देश्य है कि चेतना को विशाल स्वरूप में ले जाकर स्वत्व में स्थिर किया जा सके।



२१) पद ध्यान : पंच परमेष्ठियों का ध्यान धरना पद ध्यान है।



२२) परमपद ध्यान : पंच परमेष्ठि पदों को आत्मा में अधिष्ठित करके आत्मा को परमेष्ठि रूप में देखना परमपद ध्यान है।



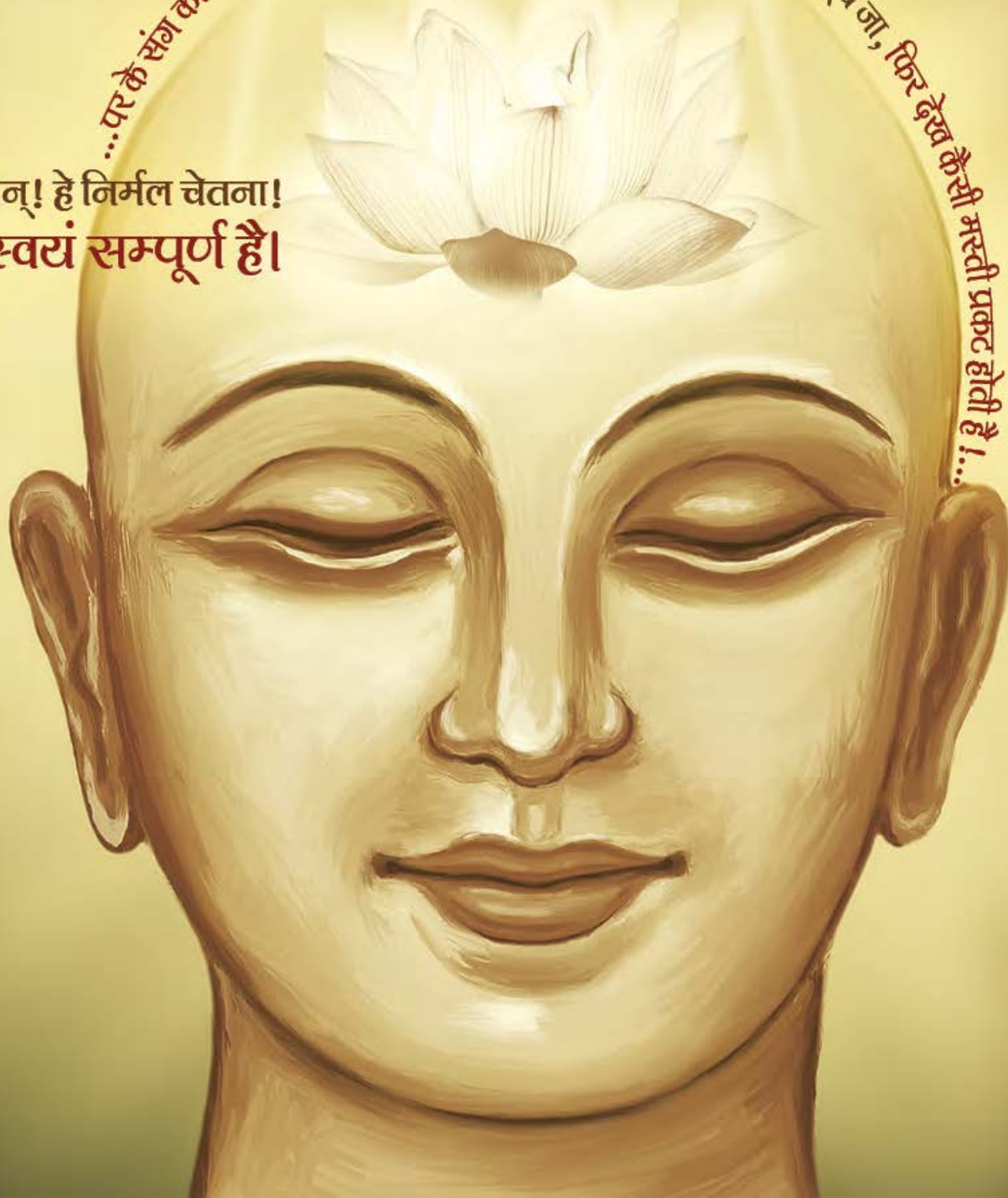
२३) सिद्धि ध्यान : सिद्ध भगवंतों के गुणों का ध्यान ही सिद्धि ध्यान है। यह सिद्धि ध्यान ही रूपातीत ध्यान है।



२४) परमसिद्धि ध्यान : सिद्ध परमात्मा के गुणों को स्व-आत्मा में प्रतिष्ठित करना ही परमसिद्धि ध्यान है।

हे आत्मन्! हे निर्मल चेतना!
तू स्वयं सम्पूर्ण है।

...पर के संग को छोड़कर तू निज-रंग में रंग जा, अपने आनन्द और ज्ञान में डूब जा, फिर देख कैसी मस्ती प्रकट होती है!...







आधार सूत्र : 13

परिषह सहनादिक परकारा,
ऐ सब है व्यवहारा;
निश्चय निजगुण ठरण उदारा,
लहत उत्तम भवपारा...

– पं. पद्मविजयजी



परिषह सहन करना व्यवहार
साधना है। निजगुणों में स्थिरता
प्राप्त करनी निश्चय साधना है।

(परिषह सहन करने से 'मैं देह
रूप नहीं हूँ' यह विचार दृढ़ होता
है तथा 'मैं कौन हूँ?' यह चिन्तन
अनुभूति के स्तर पर जाता है तब
वास्तविक 'स्व' का अनुभव होता
है, फिर स्वानुभूति निकट ही है...)

13 | ध्यान : अभ्यंतर तप

अभ्यंतर तप का क्रम अत्यंत हृदयंगम है : प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय, ध्यान तथा कायोत्सर्ग।

इन छः चरणों को दो त्रिपदी में इस प्रकार बांटा जा सकता है : साधन त्रिपदी तथा साध्य त्रिपदी।

प्रायश्चित्त, विनय तथा वैयावच्च साधन त्रिपदी का भाग है, स्वाध्याय, ध्यान तथा कायोत्सर्ग साध्य त्रिपदी का भाग है।



प्रायश्चित्त : राग-द्वेष आदि के कारण अपने से हुई भूलों की आलोचना जब साधक अपने गुरु के समक्ष करता है, तब उसका हृदय द्रवित हो उठता है। उसकी आँखें नम हो जाती हैं, यही नमी साधक के राग-द्वेष को शिथिल बनाएगी।

तो... राग-द्वेष शिथिल हो गए, किन्तु अहंकार का क्या?

अहंकार को शिथिल करने हेतु दो चरण हैं, विनय तथा वैयावच्च।

विनय : बड़े-बुजुर्गों की भक्ति, गुरुजनों की सेवा। नमन करना, झुकना।

विनय के पश्चात् वैयावच्च आता है, जो चरणों में झुकने की प्रक्रिया को और सुदृढ़ बनाता है। बड़े-बुजुर्गों की भक्ति तथा गुरुओं की पर्युपासना के संस्कार हमारे खून में हैं, इसलिए यह सेवा हो रही है। यह तो संस्कारवश सेवा है, यदि इससे भी अहंकार का नाश न हुआ तो? सेवा करने से भी अहंकार जन्म ले सकता है।

वैयावच्च यहाँ अपनी भूमिका निभाता है। छोटे व्यक्ति की भी भक्ति करो, रोगी की सेवा करो, झुको और मात्र झुको। इतना झुको कि आपको अपना 'अहं' दिखाई न दे।

प्रभु ने स्वयं वैयावच्च की प्रतिष्ठा करते हुए कहा, 'जो गिलाणं पडिवज्जइ, सो मे पडिवज्जइ...'

अर्थात् जो व्यक्ति ग्लान साधु-साध्वीजी की भक्ति करता है, वह मेरी भक्ति करता है।



इस प्रथम त्रिपदी से साधना की नींव पड़ी। राग, द्वेष तथा अहंकार शिथिल बने, तो अब अगली त्रिपदी का प्रथम चरण स्वाध्याय आएगा, अर्थात् 'स्व' का 'अध्ययन'।

नकली 'मैं' (अहंकार) नष्ट होगा तो असली 'मैं' (स्व) प्रकट होगा।

स्वाध्याय से ही यह पता चलेगा कि 'मैं' नाम के उस पार की घटना हूँ, 'मैं' देह के भी परे हूँ, तथा 'मैं' विचारों के भी उस पार हूँ।

जब यह विचार दृढ़ बनेगा, तभी मन में यह लक्ष्य स्थिर होगा कि मुझे इस 'स्व' को प्राप्त करना है। मुझे इस 'स्व' की अनुभूति करनी है।

स्वानुभूति ही हमारा एक मात्र लक्ष्य बनकर रह जाएगा।

'मैं' ही 'स्वयं' को न पहचानूँ, यह कैसे चलेगा!

यह संकल्प स्वानुभूति में परिणत होता है, तथा ध्यान एवं कायोत्सर्ग से इसकी प्राप्ति होती है।



मैं तो स्थिर ही हूँ।
मैं शाश्वत लय का आत्मद्रव्य हूँ।

परिशिष्ट | 1

ध्यानविचार, ध्यानशतक, योगशास्त्र, योगदृष्टि समुच्चय, स्वरोदय ज्ञान, नवपद पूजा आदि ग्रन्थों से यह जैन ध्यान प्रक्रिया ली गई है।

सैद्धान्तिक रूप की ध्यान की विभावना तथा ध्यान का प्रायोगिक स्वरूप मात्र अपने जैन ग्रन्थों से ही लिया गया है।

परिशिष्ट | 2

३, ५ या ७ दिन का ध्यान-सत्र रखा जा सकता है। साधक को इतने दिन पूर्णतः मौन का पालन करना है। सामायिक लेकर साधना करें तो अधिक अच्छा।



साधक की दिनचर्या

सुबह ५.०० से ६.०० : प्रतिक्रमण

(एक व्यक्ति सूत्र बोले, दूसरा सुने)

६.३० से ६.४० : प्रार्थना (परिशिष्ट ५ की तरह)

६.४० से ६.५० : ध्यान की समझ (परिशिष्ट ५ की तरह)

६.५० से ७.२० : ३० मिनट का ध्यान (परिशिष्ट ५ की तरह)

७.२० से ७.३० : 'हम मगन भये प्रभु ध्यान में...'

अथवा ऐसे किसी स्तवन का श्रवण

: विराम (दर्शन, पूजा, नवकारसी)

९.३० से ९.४० : प्रार्थना

९.४० से ९.५० : ध्यान की समझ

९.५० से १०.२० : ध्यान

१०.२० से ११.२० : स्वाध्याय (स्वैच्छिक) (परिशिष्ट ३ की तरह)

११.२० से ११.५० : ध्यान

: विराम (भोजन)

दोपहर २.३० से २.४० : प्रार्थना

२.४० से ३.१० : ध्यान

३.१० से ४.०० : स्वाध्याय

४.०० से ४.२५ : नमस्कार महामंत्र का मानस जाप

४.२५ से ४.५५ : ध्यान

: विराम

शाम : संध्याभक्ति, प्रतिक्रमण

स्वाध्याय के लिए ग्रंथ

- १) सम्यग् दर्शन (पू.आ.भ. केसरसूरि म.सा.)
- २) आत्म उत्थाननो पायो
(पू.पं.श्री भद्रंकरविजयजी म.सा.)
- ३) कहे कलापूर्ण सूरि... भा. १ से ४
- ४) योगदृष्टिनां अजवाळां... भा. १ से ३
(आ. मुक्तिदर्शन सूरिजी)
- ५) संवेदनानी सरगम (आ. यशोविजय सूरि)
(पू. भुवनभानुसूरि समुदाय)
- ६) जेलर (आ. अभयशेखर सूरिजी)
- ७) रोमे रोमे परम स्पर्श (आ. यशोविजयसूरि)
- ८) समुंद समाना बुंद में (आ. यशोविजयसूरि)
- ९) ध्यान अने कायोत्सर्ग (आ. यशोविजयसूरि)
- १०) प्रवचन अंजन जो सदगुरु करे
[नवपद ध्यान (आ. यशोविजयसूरि)]
- ११) अनुभूतिनुं आकाश
[अष्ट प्रवचनमाता (आ. यशोविजयसूरि)]
- १२) प्रस्तुत ग्रंथ (आ. यशोविजयसूरि)

पारिभाषिक शब्दों के अर्थ

| | |
|---------------|--|
| विभाव | : राग, द्वेष अहंकार आदि। |
| उजागर | : निद्रा, स्वप्न तथा जागृति के बाद की अवस्था, जिसमें विकल्प न हो तथा सम्पूर्ण जागृति हो। |
| स्वानुभूति | : 'स्व' का, आत्मदशा का या निर्मल चैतन्य दशा का अनुभव। |
| विकल्प | : राग, द्वेष, अहंकार आदि से युक्त विचार। |
| आँरा | : आभामंडल, प्रभु की प्रतिमा या गुरु के पवित्र देह से निकलने वाली विकिरणें। |
| समापत्ति | : निर्मल चित्त रूपी दर्पण में प्रभु-गुण आदि का प्रतिबिम्ब। |
| वर्तमान योग | : भूत-भविष्य की चिंता छोड़कर वर्तमान काल में उदासीन भाव से रहना। |
| समत्व | : समभाव (चित्त से राग, द्वेष, अहंकार आदि की शिथिलावस्था)। |
| समिति | : चलने, बोलने आदि की क्रिया प्रभु-आज्ञा अनुसार करना। |
| गुप्ति | : मन, वचन तथा काया के योग को शुभ की ओर प्रवर्तित करना, या मन, वचन तथा काया को स्थिर बनाना। |
| उपयोग | : मन को शुभ या शुद्ध में जोड़ना। |
| उपादान शुद्धि | : हृदय की शुद्धता। |
| पर्याय | : द्रव्य तथा गुण में होने वाले अवस्थांतर। |

परिशिष्ट | 5

प्रकरण ३ में निर्देशित प्रायोगिक ध्यान

प्रार्थना (गान)

नमस्कार महामंत्र

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्व साहूणं,
एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो,
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।

चत्तारि मंगलं-अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू
लोगुत्तमा, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरणं पवज्जामि-अरिहंते सरणं पवज्जामि,
सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि,
केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

अरिहंत प्रभु, सिद्ध प्रभु, साधु भगवंत तथा
प्रभु द्वारा प्रवर्तित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

अतीत की यात्रा में मेरे द्वारा जो भी पापकर्म/निंदनीय कार्य हुए हों,
उन सबकी अपने गुरु की साक्षी में मैं निन्दा तथा गर्हा करता हूँ।
समस्त आत्माओं द्वारा किए गए सत्कार्यों की मैं अनुमोदना करता हूँ।



शिवमस्तु सर्वजगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखीभवतु लोकः॥

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूअेसु, वेरं मज्झ न केणइ॥

सम्पूर्ण जगत् का कल्याण हो!
समस्त आत्माएँ पर-कल्याण की भावना में डूबी हो!

सबके दोषों का नाश हो।

समस्त आत्माएँ सुखी हो।

मैं समस्त आत्माओं से क्षमायाचना करता हूँ।

समस्त आत्माएँ मुझे क्षमा करें।

मेरा समस्त आत्माओं के साथ मैत्री-भाव है।

मेरा किसी के साथ वैर-भाव नहीं।

भदन्त! द्वादशांगस्य, किं सारमिति कथ्यताम्।

सूरिः प्रोवाच सारोत्र, ध्यानयोगः सुनिर्मलः॥

मूलोत्तरगुणाः सर्वे, सर्वा चेयं बहिष्क्रिया।

मुनिनां श्रावकाणाम् च, ध्यानयोगार्थमीरिता॥

मनःप्रसादः साध्योत्र, मुक्त्यर्थं ध्यानसिद्धये।

अहिंसादि-विशुद्धेन, सोनुष्ठानेन साध्यते॥

प्रभु की दिव्य कृपा से

मेरी साधना सफल हो!

(ध्यान के संदर्भ में ज्ञातव्य)

ध्यान : आंतरिक यात्रा का प्रारम्भ

ध्यान, अनायास एवं सहज प्रक्रिया है।

क्योंकि ध्यान आपका स्वभाव है।

ध्यान, अर्थात् स्वगुणानुभूति तथा स्वरूपानुभूति।

ध्यान, अर्थात् आपको अपना ही अनुभव।

अब तक दुनिया का ही अनुभव किया।

इसीलिए स्वयं से अनभिज्ञ रहे।

अब 'स्वयं' का अनुभव करें।

आपके भीतर स्थित

शाश्वत तत्त्व का अनुभव करें।

परमात्मा का वचन है – जो एगं जाणइ, सो सत्वं जाणइ।
जो व्यक्ति 'एक' को जानता है, अनुभव करता है, वह सर्व को जानता है।

यह 'एक' अर्थात् आपका निर्मल, परमानन्द स्वरूप आत्मतत्त्व। ध्यान प्रक्रिया से आपको इस आत्मतत्त्व का अनुभव करना है। प्रभु द्वारा प्ररूपित इस ध्यान प्रक्रिया से आप सब जुड़ें।

यह प्रक्रिया चार चरण की है : प्रथम चरण है भाव प्राणायाम, द्वितीय चरण : भाष्य जाप, तृतीय चरण : एकाग्रता पूर्वक किया गया मानस जाप तथा चतुर्थ चरण है ध्यान का अभ्यास।



मात्र श्वास लेना-छोड़ना द्रव्य प्राणायाम है।

प्रथम चरण : भाव प्राणायाम : श्वास लेते समय समत्व आदि के आन्दोलन को आत्मसात् करें। श्वास छोड़ते समय क्रोध आदि निकृष्ट भाव छोड़ें।

सर्वप्रथम समत्व की साधना कीजिए। श्वास लेते समय अपने आस-पास महापुरुषों द्वारा छोड़े हुए समत्व के आन्दोलन स्थित हैं, उन्हें धारण करने की भावना करें तथा श्वास छोड़ते समय भीतर स्थित क्रोध आदि कषायों के आन्दोलन छोड़ने की धारणा करें।

आपको अनुभव होगा कि आपके भीतर समत्व पुष्ट हुआ है तथा क्रोध आदि शिथिल पड़े हैं।

द्वितीय चरण : भाष्य जाप : मुँह से हल्का-सा उच्चारण करना। यहाँ 'तित्थयरा मे पसीयंतु' पद का जाप करें। गणधर भगवंत द्वारा दिये गए इस मंत्र की ध्वनि दो प्रयोजन सिद्ध करती है। एक, इस मंत्र की पवित्र ध्वनि कान में जाने से विचारों का वेग थमता है, दूसरे, साधना को आधारशिला मिलती है।

दो मिनट भाष्य जाप कीजिए,

वातावरण आनंदमय बन जाएगा।

तृतीय चरण : मानस जाप में एकाग्रता : 'तित्थयरा मे पसीयंतु' पद का आठ मिनट तक मानस जाप करें। सम्पूर्ण एकाग्रता रखते हुए, बिना किसी अन्य बात का विचार करते हुए। इधर-उधर भटकते मन को एक ही पद में आप स्थिर करेंगे। ध्यान दशा की ओर जाने से पूर्व की यह महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

चतुर्थ चरण : ध्यान का अभ्यास : जाप का पद छोड़कर अब समत्व का अनुभव करना है।

समत्व का झरना आपके भीतर ही बह रहा है। किन्तु उपयोग बहार की दुनिया में होने के कारण इसका अनुभव अब तक नहीं हो रहा था। तीसरे चरण-मानस जाप के कारण एक पद पर स्थिरता हुई, एकाग्रता आई। अब इसी एकाग्रता द्वारा भीतर स्थित समत्व का अनुभव करना है। चौथा चरण कहता है कि, 'हे आत्मन्! विचारों के परे तू झिलमिला रहा है। अब तू 'स्व' में खो जा'।



अब साधना प्रारम्भ कीजिए।

चार चरणों की हमारी साधना है, भाव प्राणायाम, भाष्य जाप, मानस जाप तथा ध्यान का अभ्यास।

सर्वप्रथम, **पहला चरण : भाव प्राणायाम।**

शरीर को सीधा एवं स्थिर रखें, आँखें बन्द, श्वास अन्दर-बाहर हो रहा है। इस श्वास को धीरे-धीरे अन्दर लें, धीरे-धीरे

बाहर छोड़ें। यह धारणा करें कि श्वास लेने के साथ समत्व के आन्दोलन अन्दर जा रहे हैं, और श्वास छोड़ते समय भीतर स्थित क्रोध आदि कषाय बाहर निकल रहे हैं।

भाव प्राणायाम, कुल दस मिनट की प्रक्रिया है। एकदम जागृति रखनी है। पूरा ध्यान श्वास लेने-छोड़ने पर रखना है। (२ मिनट वाद्य-संगीत)

जब साधना दृढ़ हो जाती है तब भाव प्राणायाम की यह प्रक्रिया सहज हो जाती है। श्वास लेने के साथ समत्व की विकिरणें स्वतः अन्दर जाती हैं और श्वास छोड़ते समय क्रोध आदि स्वतः बाहर निकलते हैं।

सम्पूर्ण सजगता, पूरी जागृति। अन्य कोई विचार नहीं, नींद भी नहीं। यदि कोई अन्य विचार आए तो तुरन्त ही दो-तीन गहरे श्वास लें, नींद आए तो तुरन्त ही थोड़ी पलक झपकाएँ।

न विचार, न नींद... मात्र जागृति

(३ मिनट वाद्य-संगीत)

अब, शरीर सीधा एवं स्थिर है, आँखें बन्द हैं, कोई अन्य विचार नहीं, आप श्वास लेने-छोड़ने का कार्य नहीं कर रहे हैं। श्वास स्वतः आ रही है - जा रही है। आप इस प्रक्रिया के मात्र द्रष्टा बन चुके हैं। (३ मिनट वाद्य-संगीत)

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने कहा कि, 'बाह्यभाव रेचक इहां जी, पूरक आंतरभाव' अर्थात् श्वास छोड़ते समय अपने भीतर स्थित क्रोध को भी बाहर निकालना-'भावरेचक' है तथा श्वास लेते समय अपने आस-पास स्थित महापुरुषों द्वारा उत्सर्जित समत्व के उर्जा-कण ग्रहण करना-'भावपूरक' है।

समत्व की उर्जा प्राप्त होने के पश्चात् इसी पर आगे बढ़ें...

द्वितीय चरण : भाष्य जाप

'तित्थयरा मे पसीयंतु' पद का जाप करें। आपके कानों तक इसकी ध्वनि के कम्पन अनुभूत हो, इतनी हल्की सी आवाज से जाप करना है। 'तित्थयरा मे पसीयंतु' पद कहता है कि, 'हे तीर्थंकर भगवंतो! आप मुझ पर प्रसाद बरसाओ। साधना के इस मार्ग पर मैं आपकी कृपा के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाऊँगा'। (२१ बार भाष्य जाप)

तृतीय चरण : मानस जाप

'तित्थयरा मे पसीयंतु' इसी पद का अपने भीतर जाप करें। आठ मिनट तक एकाग्रता से यह जाप करें। चित्त को मात्र इसी पद पर केन्द्रित करना है। न कोई अन्य विचार, न नींद... बस सम्पूर्ण जागृति।

यदि कोई विचार आ भी जाए तो 'तित्थयरा मे पसीयंतु' पद का दो बार भाष्य जाप कर लें। (२ मिनट वाद्य-संगीत)

मानस जाप में एकाग्रता है, आप हैं और यह पद है। आपको इस पद के साथ एकाकार होना है।

यह जाप, यह चरण जितना पुष्ट होगा, चौथा चरण उतना ही फलदायी बनेगा।

मन या तो भूतकाल में रहता है, या भविष्य में रहता है, वर्तमान में नहीं।

इस मन को वर्तमान में स्थिर करने हेतु...

मात्र एक ही पद में उपयोग को स्थिर करें... मन कहीं और न भटके, यह जागृति रखनी है। (२ मिनट वाद्य-संगीत)

मानस जाप में एकाग्रता... जागृति। उपयोग मात्र एक ही पद में है, अतः यह साधन एकाग्रता हुई। 'स्व' में उपयोग तथा 'स्व' में एकाग्रता रखना साध्य एकाग्रता होगी। (२ मिनट वाद्य-संगीत)

चतुर्थ चरण : ध्यान का अभ्यास

ध्यान, अर्थात् अनुभव। समत्व, आनन्द, वीतराग दशा आदि गुणों का झिलमिलाता अनुभव—यही ध्यान है। निर्मल-अखंड चेतना की अनुभूति भी ध्यान है।

पद का जाप अब छोड़ देना है, अपने भीतर स्थित समत्व का अनुभव करना है। शांतचित्त होकर बैठे रहें। बस इतनी सावधानी रखें कि कोई विचार न आए, नींद न आए। जब उपयोग 'पर' में नहीं होगा तो 'स्व' में अवश्य आएगा। अपने भीतर की समता का, अपने भीतर स्थित दिव्य आनन्द का अनुभव कीजिए। (२ मिनट वाद्य-संगीत)

ध्यान...

अनुभूति...

उपयोग मात्र भीतर...

इस हेतु आपको मात्र इतना ही करना है कि उपयोग को, मन को 'पर' में नहीं जाने देना है।

शांतचित्त होकर बैठे रहें।

आपके भीतर विकल्पों का कोई कोलाहल नहीं, वहाँ तो परम शांति है - ऐसा अनुभव करें। (२॥ मिनट वाद्य-संगीत)

समत्व आपके भीतर ही है। उसका अब तक आनन्द प्राप्त नहीं हो रहा था, इसका कारण था कि उपयोग 'पर' की ओर था।

अब मन में कोई विषमता नहीं... न रति... न अरति... न अहंकार।

अब तक उपयोग बाहर की ओर था, इधर-उधर भटक रहा था, इसीलिए समता का अनुभव नहीं होता था। अब आपको समता का अनुभव अवश्य होगा।

मात्र शांतचित्त से बैठना है। (वाद्य-संगीत)



अनन्त अतीत में
कभी अनुभूत न किया हुआ,
कभी रसास्वादन न किया हुआ
ऐसा यह क्षण...

- » દરિસન તરસીએ... ભા.૧-૨ (દ્વિતીય આવૃત્તિ)
(ભાગવતી સાધનાની સસૂત્ર વ્યાખ્યા)
- » બિહુરત જાયે પ્રાણ... (દ્વિતીય આવૃત્તિ)
(પૂજ્યપાદ સિદ્ધર્ષિ મહારાજ કૃત
જિનસ્તવના પર સંવેદના)
- » આતમજ્ઞાની શ્રમણ કહાવે... (દ્વિતીય આવૃત્તિ)
(ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૧૫મા
સભિકામુ અધ્યયન ઉપર સંવેદના)
- » મેરે અવગુન ચિત્ત ન ધરો... (દ્વિતીય આવૃત્તિ)
(કુમારપાળ ભૂપાળ કૃત
'આત્મનિન્દા દ્વાત્રિંશિકા' પર સંવેદના)
- » ઋષભ જિનેસર પ્રીતમ માહરો રે...
(શ્રી આનંદધનજી મહારાજની
સ્તવનાઓ પર સંવેદના) (સ્તવન ૧ થી ૫)
- » પ્રભુનો ખ્યારો સ્પર્શ
(પરમ પાવન શ્રી દશવૈકાલિક સૂત્ર
(૧ થી ૪) પરની વાચનાઓ)
- » આત્માનુભૂતિ
(યોગપ્રદીપ, જ્ઞાનસાર આદિ ગ્રન્થો તથા પૂ. ચિદાનંદજી
મહારાજનાં પદોમાં મળતાં સાધના-સૂત્રો પર વિશ્લેષણ)
- » અસ્તિત્વનું પરોઢ
(હૃદયપ્રદીપ પટ્ટત્રિંશિકા પર સ્વાધ્યાય)
- » અનુભૂતિનું આકાશ
(પૂ. દેવચન્દ્રજી મહારાજની અષ્ટપ્રવચન માતાની
સજ્જાય પર અનુપ્રેક્ષા)
- » રોમે રોમે પરમસ્પર્શ
(દેવાધિદેવ પ્રભુ મહાવીરની સાડાબાર વરસની
લોકોત્તર સાધનાની આંતર કથા)

પ. પૂ. આચાર્ય યશોવિજયસૂરિ મ.
દ્વારા લખાયેલ પુસ્તકો



- » **પ્રભુના હસ્તાક્ષર**
(પરમ પાવન ઉત્તરાધ્યાયન સૂત્રનાં કેટલાંક સાધના સૂત્રો પર સ્વાધ્યાય)
- » **ધ્યાન અને કાયોત્સર્ગ (દ્વિતીય આવૃત્તિ)**
(ધ્યાન અને કાયોત્સર્ગ વિશેનો શાસ્ત્રીય સન્દર્ભો સાથેનો સ્વાધ્યાય)
- » **પ્રવચન અંજન જો સદ્ગુરુ કરે**
(નવપદ સાધના)
- » **એકાન્તનો વૈભવ (તૃતીય આવૃત્તિ)**
(સ્મરણ યાત્રા)
- » **રસો વૈ સઃ (દ્વિતીય આવૃત્તિ)**
(પૂજ્યપાદ દેવગન્ધર્જી મહારાજકૃત શ્રી અભિનન્દન જિનસ્તવના પર સ્વાધ્યાય)
- » **સાધનાપથ (દ્વિતીય આવૃત્તિ)**
(પૂજ્યપાદ દેવગન્ધર્જી મહારાજકૃત શ્રી સુવિધિનાથ જિનસ્તવના પર સ્વાધ્યાય)
- » **પરમ! તારા માર્ગે (દ્વિતીય આવૃત્તિ)**
(પૂજ્યપાદ દેવગન્ધર્જી મહારાજકૃત પ્રભુ મહાવીર સ્તવના પર સ્વાધ્યાય)
- » **પ્રગટ્યો પૂરન રાગ**
(પૂજ્યપાદ દેવગન્ધર્જી મહારાજકૃત પ્રભુ નેમિનાથ સ્તવના પર સ્વાધ્યાય)
- » **સાધનાનું શિખર**
(પૂજ્યપાદ દાદાગુરુદેવશ્રી ભદ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજના જીવનપ્રસંગોનું આકલન)
- » **વાત્સલ્યનો ઘૂઘવતો સાગર**
(પૂજ્યપાદ ગુરુદેવશ્રી ઝંકારસૂરીશ્વરજી મહારાજના જીવનપ્રસંગોનું આકલન)

- » **સમાધિ શતક (ભાગ ૧ થી ૪)**
(પૂજ્યપાદ મહોપાધ્યાયશ્રી યશોવિજયજી મહારાજ કૃત સમાધિશતક ગ્રંથ પર વિવેચના)
- » **સમુંદ સમાના બુંદ મેં**
(પૂજ્યપાદ અધ્યાત્મયોગી આચાર્ય ભગવંત શ્રીમદ્વિજય કલાપૂર્ણસૂરીશ્વરજી મહારાજની શબ્દપ્રસાદી પર સ્વાધ્યાય)
- » **સ્વાનુભૂતિની પગથારે**
(પૂજ્યપાદ મહોપાધ્યાયશ્રી યશોવિજયજી મહારાજ કૃત સવાસો ગાથાના સ્તવનની કેટલીક કડીઓ પર સ્વાધ્યાય)
- » **સદ્ગુરુ: શરણં મમ**
(સદ્ગુરુ તત્ત્વ પર ભિન્ન-ભિન્ન અનુપ્રેક્ષાઓથી સભર ગ્રંથ)
- » **નિરંજન નાથ મોહિ કેસે મિલેંગે?**
(ભક્તિયોગના ઉદ્ગાતા, સાધનામનીષી પૂજ્યપાદ પંન્યાસ ભગવંત શ્રી ભદ્રંકરવિજયજી મહારાજ સાહેબ દ્વારા અપાયેલ ભક્તિસૂત્રો પર સ્વાધ્યાય)
- » **દિલ અટકો તોરા ચરન કમલ મેં...**
(પૂજ્યપાદ મહોપાધ્યાય શ્રીવિનયવિજયજી મહારાજ રચિત શ્રી ઋષભજિન સ્તવના પર સંવેદના)
- » **મોક્ષ તમારી હથેલીમાં...**
(પંચસૂત્ર ગ્રંથનાં કેટલાંક સાધનાસૂત્રો પર સ્વાધ્યાય)
- » **ધ્યાન : આંતર યાત્રા (દ્વિતીય આવૃત્તિ)**
(જૈન ધ્યાન પ્રક્રિયા)
- » **ધ્યાન : આંતર યાત્રા (હિન્દી આવૃત્તિ)**
(જૈન ધ્યાન પ્રક્રિયા)
- » **જુગ જુગથી ઝંખું છું તમને...**
(વીતરાગ સ્તોત્રના કેટલાક શ્લોકો ઉપર સ્વાધ્યાય)



